श्रीमत्स्वामि-समन्तभद्राचार्यवर्य-विरचित

देवागम

अपरनाम

आप्त-मीमांसा

अनुवादक

जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

[जैन साहित्य और इतिहासपर विशद प्रकाश, जैनाचार्योंका शासनभेद, ग्रन्थपरीक्षा (चार भाग), युगवीर-भारती, युगवीर-निबन्धावली आदिके लेखक; स्वयम्भू-स्तोत्र, युक्त्यनुशासन, समीचीनधर्मशास्त्र, अध्यात्मरहस्य, तत्त्वानुशासन, योगसारप्राभृत, कल्याणकल्पद्रुम आदि के विशिष्ट अनुवादक, टीकाकार एवं भाष्यकार; अनेकान्त आदि पत्रों, समाधितन्त्र आदि ग्रन्थोंके सम्पादक और प्राकृतपद्यानुक्रमणीके संयोजक-सम्पादक]

●

वीरसेवामन्दिरट्रस्ट-प्रकाशन

प्रकाशक
दरबारीलाल जैन कोठिया,
मंत्री, वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट,
२१, दरियागंज, दिल्ली-६

प्रथम संस्करण : एक हजार प्रतियाँ
ज्येष्ठ शुक्ला पञ्चमी, वीर नि० सं० २४९४
जून १९६७
मूल्य : प्रचारार्थ लागतसे आधा—रु० १—२५

मुद्रक
मनोहर प्रेस, जतनवर
तथा
महावीर प्रेस, भेलूपुर, वाराणसी

ग्रन्थानुक्रम

●

स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहम् ।
देवागमेन सर्वज्ञो येनाऽद्यापि प्रदर्श्यते ॥

—वादिराजसूरिः

समन्तभद्रो भद्राऽर्थो भातु भारतभूषणः ।
देवागमेन येनाऽत्र व्यक्तो देवाऽऽगमः कृतः ॥

—शुभचन्द्राचार्य

समर्पण

त्वदीयं वस्तु भोः स्वामिन् !

तुभ्यमेव समर्पितम् ।

हे आराध्य गुरुदेव स्वामी-समन्तभद्र ! आपकी यह अपूर्व अनुपम कृति देवागम (आप्तमीमांसा) मुझे आजसे कोई ७० वर्ष पहले प्राप्त हुई थी । उस वक्तसे बराबर यह मेरी पाठ्य वस्तु बनी हुई है और मैं इसके अध्ययन-मनन तथा मर्मको समझनेके प्रयत्न-द्वारा इसका समुचित परिचय प्राप्त करनेमें लगा रहा हूँ । वह परिचय मुझे कहाँ तक प्राप्त हो सका है और मैं कितने अंशोंमें इस ग्रन्थके गूढ तथा गम्भीर पद-वाक्यों-की गहराईमें स्थित अर्थको मालूम करनेमें समर्थ हो सका हूँ, यह सब संक्षेपमें ग्रन्थके अनुवादसे, जो आपके अनन्यभक्त आचार्य श्रीविद्यानन्द-जीकी अष्टसहस्री-टीकाका बहुत कुछ आभारी है, जाना जा सकता है, और उसे पूरे तौरपर तो आप ही जान सकते हैं । मैं तो इतना ही समझता हूँ कि आपकी आराधना करते हुए, जिनका मैं बहुत ऋणी हूँ, मुझे जो दृष्टि-शक्ति प्राप्त हुई है और उस दृष्टि-शक्तिके द्वारा मैंने किसी-का भी निमित्त पाकर जो कुछ अर्थका अवलोकन किया है, यह कृति उसीका प्रतिफल है । इसमें आपके ही विचारोंका प्रतिबिम्ब होनेसे वास्तवमें यह आपकी ही वस्तु है और इसलिये आपको ही सादर समर्पित है । आप लोकहितकी मूर्ति हैं, आपके प्रसादसे इस कृति-द्वारा यदि कुछ भी लोकहितका साधन हो सका तो मैं अपनेको आपके ऋणसे कुछ उऋण हुआ समझूँगा ।

विनम्र

जुगलकिशोर

प्रकाशकीय

सन् १९६४ में वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट-द्वारा 'समाधिमरणोत्साह-दीपक'का प्रकाशन हुआ था और अब प्रस्तुत स्वामी समन्तभद्रकृत देवागम (आप्तमीमांसा) का उसके हिन्दी-भाष्यके साथ मुद्रण हो रहा है। यह हिन्दी-भाष्य प्रसिद्ध साहित्य और इतिहासवेत्ता तथा स्वामी समन्तभद्रके अनन्यभक्त एवं उनकी कृतियोंके मर्मज्ञ श्रद्धेय पण्डित जुगलकिशोरजी मुख्तार अधिष्ठाता वीरसेवामन्दिर-ट्रस्टद्वारा रचा गया है। विज्ञ पाठकोंसे यह अविदित नहीं है कि स्वामी समन्तभद्रकी प्रायः सभी उपलब्ध कृतियाँ अत्यन्त गम्भीर, दुरूह और दुरवगाह हैं। एक 'रत्नकरण्डकश्रावकाचार' ही ऐसी कृति है जो अन्य कृतियोंसे अपेक्षाकृत सरल है। पर वह सैद्धान्तिक रचना है और इसलिए उसका सरल होना स्वाभाविक है। धर्मका उपदेश सरल भाषामें होना ही चाहिए। समन्तभद्रकी शेष कृतियोंमें 'स्तुति-विद्या' काव्य-शास्त्रकी उच्च कोटिकी रचना है जो समन्तभद्रके तत्सम्बन्धी वैदुष्यको प्रकट करती है। देवागम, युक्त्यनुशासन और स्वयम्भूस्तोत्र ये तीनों दार्शनिक रचनाएँ हैं, जो जैन दर्शनकी अप्रतिनिधि कृतियाँ हैं और जिनसे समग्र जैन वाङ्मय प्रदीप्त है।

प्रसन्नताकी बात है कि स्तुति-विद्याको छोड़कर शेष चारों कृतियोंका व्याख्याता होनेका सौभाग्य मुख्तारसाहबको प्राप्त है। उन्होंने इन कृतियोंका वर्षों तक स्वयं अध्ययन, मनन और अनुशीलन किया और तब उनपर व्याख्यान लिखे हैं। यद्यपि उन्होंने इन कृतियोंको गुरुमुख-से पढ़ा नहीं, फिर भी उन्होंने इनके मर्मको जितनी अच्छी तरह समझा तथा अपने भाष्योंमें उसे प्रस्तुत किया उतनी अच्छी तरह गुरु-मुखसे उन्हें पढ़नेवाला भी सम्भवतः नहीं कर सकता। टीकाओं, कोषों और ग्रन्थान्तरोंके आधारसे उन्होंने इन भाष्योंको लिखा है और इसमें उन्हें कठोर परिश्रम करना पड़ा है। फलतः वे इन ग्रन्थोंके तलद्रष्टा एवं सफल व्याख्याता सिद्ध हुए हैं।

प्रस्तुत देवागम-भाष्य उसी क्रममें सन्निविष्ट है। स्वयम्भूस्तोत्र, युक्त्यनुशासन आदिकी तरह इसके भी प्रत्येक पद-वाक्यादिका उन्होंने अच्छा अर्थ-स्फोट किया है और ग्रन्थकारके हार्दको प्रस्तुत करनेमें सफल हुए हैं। इस महत्त्वपूर्ण रचनाको उपस्थित करनेके लिए वे समाजके विशेषतया विद्वानोंके धन्यवादार्ह हैं।

इसकी प्रस्तावना लिखनेका वायदा हमने किया था। परन्तु हमें अत्यन्त खेद है कि हम उसे शीघ्र न लिख सके और जिसके कारण डेढ़ वर्ष जितना विलम्ब इसके प्रकाशनमें हो गया। इसके लिए हम पाठकोंसे क्षमा-प्रार्थी हैं। मुख्तार साहबका धैर्य और स्नेह ही प्रस्तावनाके लिखानेमें निमित्त हुए, अतः हम उनके भी कृतज्ञ हैं।

यहाँ इतना और हम प्रकट कर देना चाहते हैं कि यह ग्रन्थ कुछ कारणोंसे दो प्रेसोंमें छपाना पड़ा। मूल ग्रन्थ (पृ० १–११२) तो मनोहर प्रेस में छपा और शेष सब महावीर प्रेस में। महावीर प्रेस की तत्परताके लिए हम उसे धन्यवाद देना नहीं भूल सकते।

आशा है पाठक इस महत्त्वपूर्ण कृतिको प्राप्तकर प्रसन्न होंगे और विलम्बजन्य कष्टको भूल जावेंगे।

११ अप्रैल १९६७, —दरबारीलाल जैन कोठिया
चैत्र शुक्ला २, वि० सं० २०२४। मन्त्री, वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट,

●

धन्यवाद

इस ग्रन्थके प्रकाशनमें बा० रघुवरदयालजी जैन एम० ए०, एल-एल० बी० दिल्लीने २५१) की सहायता प्रदान की है। उनकी इस उदारता एवं वाङ्मय-प्रकाशन-प्रेमके लिए उन्हें हार्दिक धन्यवाद है।

—प्रकाशक

अनुवादकीय वक्तव्य

मूलके अनुकूल वाद—कथनको अनुवाद कहते हैं। जो अनुवाद मूलका ठीक-ठीक अनुसरण न करे, मूलकी सीमासे बाहर निकल जाय अथवा बीच-बीचमें इधर-उधरकी कुछ ऐसी दूसरी बातोंको अपनेमें समाविष्ट करे, जिनका प्रकृत विषयके साथ कोई सम्बन्ध न हो वह अनुवाद कहलानेके योग्य नहीं। अनुवाद्य-ग्रन्थ यहाँ 'देवागम' है, जो स्वामी जैसे उन अद्वितोय महान् आचार्यकी अपूर्व कृति है जिनके वचनोंको उत्तम पुरुषोंके कण्ठोंका आभूषण बननेवाली बड़े-बड़े गोल-सुडौल मोतियोंकी मालाओंकी प्राप्तिसे अधिक दुर्लभ बतलाया है। भवभ्रमण करते हुए संसारी प्राणियोंको मनुष्य-भवके समान दुर्लभ दर्शाया है और भगवान् महावीर-वाणीके समकक्ष दैदीप्यमान घोषित किया है। देवागम यह नाम ग्रन्थके 'देवागम' शब्दसे प्रारम्भ होनेसे सम्बन्ध रखता है; जैसे भक्तामर, कल्याणमन्दिर, स्वयम्भूस्तोत्रादि ग्रन्थ प्रारम्भिक शब्दके अनुरूप अपने-अपने नामोंको लिए हुए हैं उसी प्रकार यह ग्रन्थ भी, जो वस्तुतः एक असाधारण कोटिका स्तोत्र-ग्रन्थ है, अपने प्रारम्भिक शब्दानुसार 'देवागम' कहा गया है। इसका दूसरा नाम 'आप्त-मीमांसा' है, जो आप्तों—सर्वज्ञ कहे जानेवालों—के वचनोंकी परीक्षाद्वारा उनके मतोंके सत्यासत्यनिर्णयकी दृष्टिको लिए हुए है। समन्तभद्रके सभी ग्रन्थ दो-दो नामोंको लिए हुए हैं; जैसे 'जिनशतक' का दूसरा नाम 'स्तुतिविद्या' और युक्त्यनुशासनका दूसरा नाम 'वीरजिनस्तोत्र' है, जो देवागमके बाद—सब आप्तों-सर्वज्ञोंकी परीक्षा कर लेनेके अनन्तर—श्रीवीरजिनकी स्तुतिमें लिखा गया है। समन्तभद्रके किसी भी ग्रन्थका नाम केवल प्रारम्भिक शब्दके आधारपर ही नहीं है किन्तु साथमें गुणप्रत्यय भी है, देवागम भी ऐसा ही नाम है। वह मूलकारिकानुसार देवोंके आगमनका वाचक ही नहीं बल्कि जिनेन्द्रदेवका आगम जिसके द्वारा व्यक्त होता है उस अर्थका भी वाचक है।

देवागमकी मूल कारिकाएँ कुल ११४ हैं, देखनेमें प्रायः सरल जान

पड़ती हैं—सामान्य अर्थकी दृष्टिसे कोई खास कठिनाई मालूम नहीं पड़ती; परन्तु विशेषार्थ और फलितार्थकी दृष्टिसे जब विचार किया जाता है तो बहुत कुछ गहन-गम्भीर तथा अर्थगौरवको लिए हुए जान पड़ती हैं। सभी कारिकाएँ प्रायः सूत्ररूपमें हैं। अनेक कारिकाओंमें तो कितने ही सूत्र एकसाथ निबद्ध हो रहे हैं। सूत्रशैली प्रायः अतिसंक्षिप्तरूपसे कथनकी शैली है और इसलिए सूत्रों अथवा सूत्ररूप कारिकाओंका अर्थ स्पष्ट करनेके लिए कितनी ही बातोंका ऊपरसे लेना—लगाना होता है, जिनसे यह मालूम हो सके कि सूत्रकारके सामने क्या परिस्थिति थी, कोई मत-विशेष अथवा प्रश्न-विशेष उपस्थित था, जिसे लेकर इसका अवतार हुआ है। श्री अकलंकदेवने अपने अष्टशती (आठसौ श्लोकोंके परिमाण जितने) भाष्यमें देवागमकी अर्थदृष्टिको सूत्ररूपमें ही खोला है। परन्तु विषयकी दृष्टिसे वे सूत्र इतने कठिन और दुर्गम हो गये हैं कि साधारण विद्वान्की तो बात ही क्या, अच्छे विद्वान् भी उसे सहजमें नहीं लगा सकते हैं। उक्त अष्टशती-भाष्यको अपनाकर श्री-विद्यानन्दाचार्यने देवागमपर जो अष्टसहस्री (आठ-हजार श्लोक परिमाण) नामकी अलङ्कृति लिखी है उससे अष्टशतीका सूत्रार्थ स्पष्ट अवभासित होता है और उसकी गम्भीरता एवं जटिलताका पता चल जाता है। यह अष्टसहस्री-टीका भी विषयकी दृष्टिसे कठिन शब्दोंकी भरमारको लिए हुए है और इसलिए एक विद्वान् यशोविजय (श्वेताम्बराचार्य) को इसपर टिप्पण लिखना पड़ा है, जिसका परिमाण भी आठ हजार श्लोक जितना हो गया है। इससे मूलग्रन्थ कितना अधिक गहन, गम्भीर तथा अर्थ-गौरवको लिए हुए है, यह और भी स्पष्ट हो जाता है।

अष्टसहस्रीको स्वयं विद्यानन्दाचार्यने 'कष्टसहस्री' लिखा है अर्थात् उसका निर्माणकार्य सहस्रों कष्ट झेलकर हुआ है और यह बात उन विज्ञ पाठकोंसे छिपी नहीं, जो ऐसे खोजपूर्ण महत्त्वके ग्रन्थोंका निर्माण-कार्य करते हैं—उन्हें पद-पदपर उस कष्टका अवभासन होता है—साधारण विज्ञ पाठकोंके वशकी वह बात नहीं। ठीक है, प्रसवमें जो भारी वेदना होती है उसे बाँझ क्या जाने? आचार्य महोदयने एक

बात इस अष्टसहस्रीके विषयमें और भी लिखी है और वह यह कि 'हजार शास्त्रोंके सुननेसे क्या, एक अष्टसहस्रीको सुनना चाहिए, जिस अकेली-से ही स्वसमय और परसमय दोनोंका यथार्थ बोध होता है'[1]। यह मात्र अपने ग्रन्थकी प्रशंसामें लिखा हुआ वाक्य नहीं है, बल्कि सच्ची वस्तु-स्थितिका द्योतक है। एकबार खुर्जाके सेठ पं० मेवारामजीने बतलाया था कि जर्मनीके एक विद्वान्ने उनसे कहा है कि 'जिसने अष्टसहस्री नहीं पढ़ी वह जैनी नहीं और जो अष्टसहस्रीको पढ़कर जैनी नहीं हुआ उसने अष्टसहस्रीको समझा नहीं।' कितने महत्त्वका यह वाक्य है और एक अनुभवी विद्वान्के मुखसे निकला हुआ अष्टसहस्रीके गौरवको कितना अधिक ख्यापित करता है। सचमुच अष्टसहस्री ऐसी ही एक अपूर्व कृति है और वह देवागमके मर्मका उद्घाटन करती है। खेद है कि आज तक ऐसी महत्त्वकी कृतिका कोई हिन्दी-अनुवाद ग्रन्थ-गौरवके अनुरूप होकर प्रकाशित नहीं हो सका।

जिन्होंने स्तुति-विद्याका अध्ययन किया है वे जानते हैं कि समन्त-भद्रको शब्दोंके ऊपर कितना अधिक एकाधिपत्य प्राप्त था। श्लोकके एक चरणको उलटकर दूसरा चरण, पूर्वार्धको उलटकर उत्तरार्ध और सारे श्लोकको उलटकर दूसरा श्लोक बना देना तो उनके बाएँ हाथका खेल था। वे एक ही श्लोकके अक्षरोंको ज्यों-का-त्यों स्थिर रखते हुए उन्हें कुछ मिलाकर या अलगसे रखकर दो अर्थोंके वाचक दो श्लोक प्रस्तुत करते थे। श्रीवीर भगवान्की स्तुतिमें एक पद्यका उत्तरार्ध है 'श्रीमते वर्द्धमानाय नमो नमितविद्विषे।' यही उत्तरार्ध अगले दो पद्योंका भी उत्तरार्ध है परन्तु अर्थ तीनों पद्योंके उत्तरार्धोंका एक-दूसरेसे प्रायः भिन्न है। ये सब बातें रचनाके महत्त्व और उनकी कला पूर्णताको व्यक्त करती हैं। प्रस्तुत देवागम भी ऐसे कलापूर्ण महत्त्वसे अछूता नहीं, उसमें एक कारिकाको एक जगह रखनेपर एक अर्थ, दूसरी जगह कुछ कारिकाओंके मध्य रखनेपर दूसरा अर्थ और तीसरी जगह

---

१. श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः।
विज्ञायेत ययैव स्वसमय-परसमयसद्भावः॥

रखनेपर तीसरा अर्थ हो जाता है। वह कारिका है 'विरोधान्नोभयैकात्म्यं' नामकी, जिसे ग्रन्थमें ९ स्थानोंपर रखा गया है और ग्रन्थ-सन्दर्भकी दृष्टिसे अपने-अपने स्थानपर उसका अलग-अलग अर्थ होता है—एक स्थानपर जो अर्थ घटित होता है वह दूसरे स्थान पर घटित नहीं होता।

ऐसे महान् आचार्यके इतने गहन, गंभीर तथा अर्थगौरवको लिए हुए कलापूर्ण ग्रन्थका अनुवाद मेरे जैसा व्यक्ति करे, जिसने न किसी विद्यालय-कालेजमें व्यवस्थित शिक्षा ग्रहण कर डिग्री प्राप्त की है और न साक्षात् गुरुमुखसे ही ग्रन्थका अध्ययन किया है, यह आश्चर्यकी ही बात है! फिर भी स्वामी समन्तभद्र और उनके वचनोंके प्रति मेरी जो भक्ति है वही यह सब कुछ अद्भुत कार्य मुझसे करा रही है—'त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम्' मानतुङ्गाचार्यका यह वाक्य यहाँ ठीक घटित होता है। इसी भक्तिसे प्रेरित होकर मैंने इससे पहले स्वामीजीके तीन ग्रन्थों—स्वयम्भूस्तोत्र, युक्त्यनुशासन और समीचीन धर्मशास्त्रके अनुवादादि प्रस्तुत किये हैं जो विद्वानोंको रुचिकर जान पड़े हैं। इसके लिए स्व० न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजीका एक वाक्य यहाँ उद्धृत कर देना अनुचित न होगा, जो उन्होंने तत्त्वानुशासनके 'प्राक्कथन' में ग्रन्थके अनुवाद विषयमें लिखा है—

'युक्त्यनुशासन जैसे जटिल और सारगर्भ महान् ग्रन्थका सुन्दरतम अनुवाद समन्तभद्र स्वामीके अनन्यनिष्ठभक्त साहित्य-तपस्वी पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने जिस अकल्पनीय सरलतासे प्रस्तुत किया है वह न्यायविद्याके अधिकारियोंके लिए आलोक देगा।"

इस प्रकारके विद्वद्वाक्योंसे मुझे प्रोत्साहन मिलता रहा और मैं बराबर अपने कार्यमें अग्रसर होता रहा हूँ।

देवागमकी प्राप्ति मुझे आजसे कोई ७० वर्ष पहले जयपुरके पं० जयचन्दजीकी जयपुरी भाषामें लिखी टीका-सहित हुई थी, जिसकी मैंने स्वाध्यायके अनन्तर निज पठनार्थ प्रेमपूर्वक प्रतिलिपि भी अच्छे पुष्ट कागजके शास्त्राकार खुले पत्रोंपर की थी, जिसकी पत्रसंख्या ९० है और जो मंगसिर बदी सप्तमी संवत् १९५५ को लिखकर समाप्त हुई थी।

यह हस्तलिखित प्रति आज भी मेरे संग्रहमें सुरक्षित है। इस टीकासे मुझे ग्रन्थकी अधिकाधिक जानकारीके लिए और जो गुत्थियाँ इस टीकासे नहीं सुलझ सकीं उन्हें सुलझानेके लिए दूसरी टीकाओंको देखनेकी प्रेरणा मिली और मैं बराबर उनकी तलाशमें रहा। सन् १९०५ में सनातन जैन ग्रन्थमालाका प्रथम गुच्छक बम्बईसे प्रकाशित हुआ, जिसमें वसुनन्दि आचार्यकी एक वृत्ति (संस्कृत-टीका) देखनेको मिली। यह वृत्ति शब्दार्थकी दृष्टिसे अच्छी उपयोगी जान पड़ी। इसके अन्तमें आचार्यने स्वामी समन्तभद्रको 'त्रिभुवनलब्धजयपताक', 'प्रमाणनयचक्षु' और 'स्याद्वाद-शरीर' जैसे विशेषणोंके साथ उल्लेखित किया है और अपनेको 'श्रुत-विस्मरणशील' तथा 'जडमति' लिखा है और 'आत्मोपकार' के लिए इस टीकाका लिखा जाना सूचित किया है। इससे कोई १० वर्ष बाद सन् १९१५ में अष्टसहस्रीका प्रकाशन भी बम्बईसे हुआ। वह अष्टशतीको भी हृदयंगम किये हुए है और अनेक टिप्पणोंको भी साथमें लिए हुए है। तभीसे वे मेरे अध्ययनका विषय बनी रही हैं और उनसे प्रत्येक उलझनें सुलझी हैं।

मेरा प्रस्तुत अनुवाद मुख्यतः अष्टसहस्रीके आधारपर अवलम्बित है, जिसके लिए मैं श्रीविद्यानन्दाचार्यका बहुत आभारी हूँ। मेरे अनुवादमें जो कुछ खूबी है उसका प्रमुख श्रेय स्वामी समन्तभद्र और उनके अनन्यभक्त उक्त आचार्य महोदयको प्राप्त है, जहाँ कहीं कोई त्रुटि है वहाँ मेरी अपनी ही है। मैंने सब टीका-टिप्पणोंके साथ अष्टसहस्रीका दोहन कर जो मोटा नवनीत (मक्खन) निकाला है और जिसे मैंने अपने पाठकोंके लिए परम उपयोगी तथा हितकर समझा है उसीको अनुवादादिके रूपमें निबद्ध किया गया है, जो पाठक विशेष सूक्ष्म बातोंको जाननेके इच्छुक हों वे अष्टसहस्रीसे अपना सीधा सम्बन्ध स्थापित करें। मूल कारिकाओंपरसे जो अर्थ सहज फलित तथा अनुमृत होता है उसे मूलानुगामी अनुवादके रूपमें ब्लैक-टाइपमें रखा गया है, उस अर्थका यथाशक्य स्पष्टीकरण डैश (—) के अनन्तर अथवा दो डैशोंके भीतर दिया गया है और जो बातें कथनका सम्बन्ध बिठलानेके लिए ऊपरसे लेनी पड़ी हैं गोल ब्रैकटके भीतर रक्खा गया है—कहीं-कहीं

किसी अर्थका दूसरा पर्याय शब्द भी ब्रैकटके भीतर रखा गया है। साथ ही किसी-किसी कारिकाके अर्थको और विशद करनेके लिए व्याख्याको भी अपनाया गया है। जैसे कारिका ८ की व्याख्या। ऐसी व्याख्याएँ और अधिक लिखी जातीं तो अच्छा होता। परन्तु समय और शक्तिने यथावसर इजाजत नहीं दी। इससे मूलग्रन्थ और अनुवादकी सारी स्थितिको भले प्रकार समझा जा सकता है।

यहाँ एक बात और प्रकट कर देनेकी है और वह यह कि प्रस्तुत देवागममें जिस आप्तकी मीमांसा की गई है वह आप्त वह है जो तत्त्वार्थाधिगमसूत्रकी आदिमें मंगलाचरणरूपसे रचित स्तुतिका विषयभूत है; जैसा कि अष्टसहस्रीका प्रारम्भ करते हुए विद्यानन्दजीके निम्न मगल-श्लोकवाक्यसे प्रकट है :—

शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमासितं कृतिरलङ्क्रियते मयाऽस्य।'

अर्थात् तत्त्वार्थशास्त्रके अवतार समय रची गई जो स्तुति ('मोक्ष-मार्गस्य नेतारम्' इत्यादि) उसका विषयभूत जो आप्त है उस आप्तकी मीमांसाको लिए हुए समन्तभद्रकी कृति (आप्तमीमांसा) को मैं अलंकृत करता हूँ। इसी बातको विद्यानन्दने अपनी आप्तपरीक्षाके अन्तमें निम्न पद्य द्वारा और भी स्पष्ट कर दिया है :—

श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य,
प्रोत्थानारम्भकाले सकलकालभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत्।
स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथितपृथुपथं स्वामिमीमांसितं तत्,
विद्यानन्दैः स्वशक्तया कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्धयै॥

इसमें जो कुछ दर्शाया है उसका सार इतना ही है कि तत्त्वार्थशास्त्र नामका जो अद्भुत समुद्र है उसके निर्माणके प्रारम्भकालमें मंगलाचरणके लिए जो तीर्थोपमान स्तोत्र सूत्रकारद्वारा रचा गया है उसकी स्वामी समन्तभद्रने मीमांसा की है और मैंने यह परीक्षा सत्यवाक्यार्थकी सिद्धिके लिए लिखी है।

ऊपर जिस मंगल-स्तोत्रकी चर्चा है वह पद्य इस प्रकार है :—

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥

इसमें आप्तके तीन गुणोंका उल्लेख है और उन गुणोंकी प्राप्तिके लिए ही आप्तकी वन्दना की गई है। वे तीन गुण हैं मोक्षमार्गका नेतृत्व, मोहादिकर्मभूभृतोंका भेतृत्व और विश्वतत्त्वोंका ज्ञातृत्व। ये गुण आप्तमें जिस क्रमसे विकासको प्राप्त होते हैं वह है पहले मोहादिकर्मभूभृतों (पर्वतों) का भेदन होकर राग-द्वेषादि दोषोंका अभाव होना, दूसरे ज्ञानावरणादिका अभाव होकर विश्वतत्त्वोंका ज्ञाता होना और तीसरे आगमेशके रूपमें मोक्षमार्गका प्रणेता होना; जैसा कि स्वामीजीके समीचीनधर्मशास्त्र (रत्नकरण्ड) के निम्न वाक्यसे प्रकट है :—

आप्तेनोत्सन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना ।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥

तब उक्त मंगल-स्तोत्रमें आप्तके विशेषणोंको क्रमभंग करके क्यों रखा गया है—तृतीय विशेषणको प्रथम स्थान क्यों दिया गया है? यह एक प्रश्न पैदा होता है। इसके उत्तरमें इतना ही निवेदन है कि तत्त्वार्थसूत्रको 'मोक्षशास्त्र' भी कहते हैं, जगह-जगह 'मोक्षशास्त्र' नामसे उसका उल्लेख है। मोक्षशास्त्रका मंगलाचरण होनेसे ही इसमें 'मोक्ष-मार्गस्य नेतारम्' पदको प्रधानता दी गई है और यही बात विशेषणपदोंको क्रमभंग करके रखनेका कारण जान पड़ती है। तथा इस बातको स्पष्ट सूचित करती है कि यह मोक्षशास्त्रका मंगल-पद्य है।[1] अस्तु।

इस अनुवादको न्यायाचार्य पण्डित दरबारीलालजी जैन कोठियाने पूर्ण मनोयोगके साथ पढ़ जानेकी कृपा की है और कितना ही प्रूफरीडिंग आदि भी किया है। दो-एक जगह समुचित परामर्श भी दिया है। इस सब कृपाके लिए मैं उनका बहुत आभारी हूँ। साथ ही उन्होंने प्रस्तावना

१. इस मंगलाचरण-विषयका विशेष ऊहापोह न्यायाचार्य पण्डित दरबारीलालजीकी प्रस्तावना तथा उन लेखोंमें किया गया है जो अनेकान्त वर्ष ५ कि० ६-७ व कि० ११-१२ में प्रकाशित हुए हैं।

लिख देनेकी जो कृपा की है वह विशेष आभारके योग्य है। यद्यपि प्रस्तावनाके लिखनेमें उन्हें अपनी कुछ परिस्थितियोंके वश आशातीत विलम्ब हुआ है, जिसे उन्होंने अपने प्रकाशकीयमें स्वीकार किया है फिर भी मैं तो यही समझता हूँ कि पुस्तकके प्रकाशनका योग इससे पहले नहीं था और इसीसे विलम्ब हुआ है। अस्तु।

आशा है पाठकगण अब इस अनुवादादिको पाकर प्रसन्न होंगे और प्रतीक्षाजन्य कष्टको भूल जायेंगे तथा अपनी चिर् कालीन इच्छाको पूरा करनेमें समर्थ हो सकेंगे।

एटा,
७ मई १९६७

लोकहिताकांक्षी
जुगलकिशोर मुख्तार

प्रस्तावना

देवागम और समन्तभद्र

१. देवागम :

(क) नाम

प्रस्तुत कृतिका नाम 'देवागम' है। प्राचीन ग्रन्थकारोंने प्रायः इसी नामसे इसका उल्लेख किया है। अकलङ्कदेवने इसपर अपना विवरण (अष्टशती-भाष्य) लिखनेकी प्रतिज्ञा करते हुए उसके आरम्भमें इसका यही नाम दिया है और उसे 'भगवत्स्तव' (भगवान्‌का स्तोत्र) कहा है।[1] विद्यानन्द ने भी 'अष्टसहस्री' (पृ० २९४) में अकलङ्कदेवके अष्टशतीगत 'स्वोक्त-परिच्छेदे' पदकी व्याख्या 'देवागमाख्ये...शास्त्रे' करके इसका 'देवागम' नाम स्वीकार किया है।[2] वादिराज,[3] हस्तिमल्ल[4] आदि ग्रन्थकारोंने भी अपने ग्रन्थोंमें समन्तभद्रकी उल्लेखनीय कृतिके रूपमें इसका इसी नामसे निर्देश किया है। आश्चर्य नहीं कि जिस प्रकार 'कल्याणमन्दिर',

---

१. 'कृत्वा विव्रियते स्तवो भगवतां देवागमस्तत्कृतिः।'
—अष्टश० प्रारम्भिक पद्य २।

२. 'इति देवागमाख्ये स्वोक्तपरिच्छेदे शास्त्रे...।'
—अष्टस० पृ० २९४।

३. 'स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहम्।
देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते॥'
—पार्श्व० च०।

४. देवागमनसूत्रस्य श्रुत्या सद्दर्शनान्वितः।'
—विक्रान्त कौ० प्र०।

'भक्तामर', 'एकीभाव' आदि स्तोत्र 'कल्याणमन्दिर', 'भक्तामर', 'एकीभाव' जैसे आद्य पदोंसे आरम्भ होनेके कारण वे उन नामोंसे ख्यात हैं उसी प्रकार यह स्तव भी 'देवागम' पदसे आरम्भ होनेसे 'देवागम' नामसे अधिक प्रसिद्ध रहा हो और इसीसे ग्रन्थकारों द्वारा वह इसी नामसे विशेष उल्लिखित हुआ हो। स्तवकारने[1] इसका 'आप्तमीमांसा' नाम दिया है, जिसे अकलङ्कदेवने[2] 'सर्वज्ञविशेषपरीक्षा' कहा है। विद्यानन्दने[3] अपने ग्रन्थोंमें 'देवागम' नामके अतिरिक्त इस 'आप्तमीमांसा' नामका भी उपयोग किया है। इससे मालूम पड़ता है कि यह कृति जहाँ 'देवागम' नामसे जैन साहित्यमें विश्रुत है वहाँ वह 'आप्तमीमांसा' नामसे भी। और इस तरह यह महत्वपूर्ण रचना दोनों नामोंसे प्रख्यात है।

(ख) परिचय :

यह दश परिच्छेदोंमें विभक्त है और ये परिच्छेद विषय-विभाजनकी दृष्टिसे स्वयं ग्रन्थकारोक्त हैं।[4] ग्रन्थकारकी यह दश-संख्यक परिच्छेदोंकी कल्पना हमें आचार्य गृद्धपिच्छके तत्त्वार्थसूत्रके दश अध्यायों और महर्षि कणादके 'वैशेषिक सूत्रके दश अध्यायोंका स्मरण दिलाती है। अन्तर इतना ही है कि ये सूत्र-ग्रन्थ गद्यात्मक तथा सिद्धान्तशैलीमें रचित हैं और देवागम पद्यात्मक एवं दार्शनिक शैलीमें रचा गया है। उस समय दार्शनिक रचनाएँ प्रायः कारिकात्मक तथा इष्टदेवकी स्तुतिरूपमें रची जाती थीं। नागार्जुन, वसुबन्धु आदि दार्शनिकोंकी रचनाएँ इसी प्रकारकी उपलब्ध होती हैं। समन्तभद्रने भी समयकी माँगके अनुरूप अपने तीन (स्वयम्भू, युक्त्यनुशासन और देवागम) स्तोत्र दार्शनिक एवं कारिकात्मक शैलीमें रचे हैं।

१. 'इतीयमाप्तमीमांसा विहिता हितमिच्छताम् ।'

—देवागम का० ११४।

२. अष्टश० देवागम का० ११४।

३. अष्टस० पृ० १, आप्तपरीक्षा पृ० २३३, २६२, वीरसेवामन्दिर, दरियागंज, दिल्ली।

४. 'स्वोक्तपरिच्छेदे…'—अष्टश०, देवागम का० ११४।

प्रथम परिच्छेद :

इसके दस परिच्छेदोंमें कुल ११४ कारिकाएँ हैं। प्रथम परिच्छेदमें १-२३ कारिकाएँ हैं। १-३ तक उन विशेषताओंका उल्लेख करके मीमांसा की गई है जिनसे आप्त माननेकी बात कही जाती है। ४थीमें ऐसे व्यक्ति-विशेषकी सम्भावना की है जो निर्दोष हो सकता है। ५वींमें ऐसे हेतुसे सामान्य आप्त (सर्वज्ञ) का संस्थापन (अनुमान) किया है जो साध्यका अविनाभावी तथा निर्दोष है। ६ठींमें वह सामान्य आप्तत्व युक्ति-पूर्वक अर्हत्में पर्यवसित किया गया है और कहा गया है कि चूँकि उनका शासन (तत्त्वप्ररूपण) प्रमाणाविरुद्ध है, अतः वही आप्त प्रमाणित होते हैं। ७वीं में वर्णित है कि जो एकान्त तत्त्वके प्ररूपक हैं उनका वह एकान्त प्ररूपण प्रत्यक्ष-विरुद्ध है। ८वीं में यह बताया गया है कि एकान्तवादियोंका वह तत्त्व-प्ररूपण प्रत्यक्ष-विरुद्ध कैसे है। यतः एकान्तवादी स्वपरवैरी हैं, अतः उनका पुण्य-पापादि प्ररूपण उनके यहाँ सम्भव नहीं है। ९-११ तक तीन कारिकाओं द्वारा वस्तुको सर्वथा भाव (विधि) रूप स्वीकार करनेपर प्रागभाव आदि चारों अभावोंके अपह्नवका दोष दिया गया है। बताया गया है कि प्रागभावका अपलाप करने पर किसीका उत्पाद नहीं हो सकेगा—अर्थात् कार्य अनादि हो जायेगा, प्रध्वंसाभावके न रहनेपर किसीका नाश नहीं होगा—अर्थात् कार्यद्रव्य अनन्त हो जायेगा, अन्यो-न्याभावके निषेध करनेपर 'यह अमुक है, अमुक नहीं' ऐसा निर्द्धारण नहीं हो सकेगा—अर्थात् सब सबरूप हो जायेगा। और अत्यन्ताभावके लोप हो जानेपर वस्तुका अपना प्रतिनियत स्वरूप न रहेगा। इस तरह सारी वस्तु व्यवस्था चौपट (समाप्त) हो जायगी।

कारिका १२ द्वारा उन्हें दोष दिया गया है जो वस्तुको सर्वथा अभाव (शून्य) रूप मानते हैं। कहा गया है कि अभावरूप वस्तु स्वीकार करने-पर उसे स्वयं जाननेकेलिए बोध (ज्ञान) और दूसरोंको जनाने—बतानेके लिए वचनरूप साधन-प्रमाणों तथा अनभिमत भावरूप वस्तुको स्वयं दोषपूर्ण मानने और दूसरोंको दोषपूर्ण बतानेके लिए उक्त दोनों

(बोध और वचनरूप) दूषणप्रमाणोंको स्वीकार करना आवश्यक है, जो सर्वथा अभाववादमें सम्भव नहीं, क्योंकि वे दोनों भावरूप हैं।

१३ में सर्वथा भाव और सर्वथा अभाव दोनोंरूप वस्तुको माननेपर विरोध तथा उसे सर्वथा अवाच्य (अनिर्वचनीय) स्वीकार करनेपर उसका 'अवाच्य' शब्दसे भी कथन न कर सकनेका दोष दिखाया गया है।

१४–२२ तक ९ कारिकाओंद्वारा स्याद्वादनय (अपेक्षावाद) से वस्तु को अनेकान्तात्मक अर्थात् भाव (विधि) और अभाव (निषेध) रूप विरोधी युगलको लेकर उसे सप्तभङ्गात्मक (सप्तधर्मरूप) सिद्ध किया है। २३वीं कारिका द्वारा एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदि विरोधी युगलों को लेकर भी वस्तुमें सप्तभङ्गी (सप्तभङ्गात्मकता) की योजना करने की सूचना की गई है।

इस तरह इस प्रथम परिच्छेदमें भाव और अभावके सम्बन्धमें उन एकान्त मान्यताओंकी मीमांसा की गई है जो ग्रन्थकारके समयमें चर्चित एवं बद्धमूल थीं। साथ ही उनका नय-विवक्षासे समन्वय करके उनमें सप्तभङ्गी-अनेकान्तकी स्थापना की है।

द्वितीय परिच्छेद :

द्वितीय परिच्छेदमें २४–३६ तक १३ कारिकाएँ हैं। २४–२७ तक चार कारिकाओं द्वारा अद्वैतैकान्त (सर्वथा एकवाद) की समीक्षा की गई है और कहा गया है कि वस्तुको सर्वथा एक माननेपर क्रिया-भेद, कारक-भेद, पुण्य-पापरूप कर्मद्वैत, सुख-दुःखरूप फलद्वैत, इहलोक-परलोक-रूप लोकद्वैत, विद्या-अविद्यारूप ज्ञानद्वैत और बन्ध-मोक्षरूप जीवकी शुद्धाशुद्ध दो अवस्थाएँ ये सब अद्वैतमें सम्भव नहीं हैं। इसके सिवाय हेतुसे अद्वैतकी सिद्धि करनेपर साधन और साध्यका द्वैत स्वीकार करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। यदि बिना हेतुके ही अद्वैत माना जाय, तो द्वैतको भी बिना हेतुके मान लेना चाहिए। इसके अतिरिक्त अद्वैत वादमें यह भी विचारणीय है कि 'अद्वैत' पदमें जो 'द्वैत' शब्द पड़ा हुआ है उसका वाच्य द्वैत है या नहीं ? क्योंकि नामवाली वस्तुका

निषेध उसके अस्तित्वको स्वीकार किये बिना नहीं हो सकता और द्वैतको स्वीकार करनेपर सर्वथा अद्वैतकी मान्यता समाप्त हो जाती है। यथार्थमें अद्वैत द्वैतका निषेध है और द्वैत वस्तुभूत अद्वैतैकान्तमें स्वीकृत न होनेसे उसका निषेधरूप सर्वथा अद्वैत कैसे माना जा सकता है ?

कारिका २८ के द्वारा सर्वथा द्वैत (अनेक) वादी वैशेषिकोंके अनेकवादकी आलोचना करते हुए प्रतिपादन किया गया है कि जिस पृथक्त्व गुणसे द्रव्यादि पदार्थोंको पृथक् (अनेक) कहा जाता है वह उनसे अपृथक् है या पृथक् ? उसे उनसे अपृथक् तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि वैसा उनका सिद्धान्त नहीं है। यदि उसे उनसे पृथक् कहा जाय तो वह पृथक्त्व गुण अपनी सत्ता कायम नहीं रख सकता, क्योंकि वह अनेकोंमें रहकर ही अपने अस्तित्वको स्थिर रखता है। इस प्रकार वैशेषिकोंके अनेकवादकी मान्यताका आधार-स्तम्भ (पृथक्त्वगुण) जब ढह जाता है तो उसपर आधारित अनेकवादका प्रासाद भी धराशायी हो जाता है।

बौद्ध भी अनेकवादी हैं। पर उनका अनेकवाद वैशेषिकोंके अनेकवादसे भिन्न हैं। वे अन्वयरूप एकत्व न मानकर सर्वथा पृथक्-पृथक् अनेक विसदृश क्षणोंको ही वस्तु स्वीकार करते हैं। उनकी इस मान्यताकी भी २९–३१ तक तीन कारिकाओं द्वारा समीक्षा की गई है। कहा गया है कि मालाके दानोंमें सूतकी तरह क्षणोंमें अन्वयरूप एकत्व न माननेपर उनमें सन्तान, सादृश्य, समुदाय और प्रेत्यभाव आदि नहीं बन सकते, क्योंकि क्षणोंका एक-दूसरेसे एकत्वरूप सम्बन्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त ज्ञान और ज्ञेय इन दोनोंको 'सत्' की अपेक्षासे भी भिन्न माननेपर दोनों ही असत् हो जावेंगे। और उस हालतमें न ज्ञानकी स्थिति रहेगी और न बाह्य तथा अन्तस्तत्त्वरूप आभ्यन्तर ज्ञेय ही बन सकेगा। वचनोंसे भी उनकी स्थिति नहीं रोपी जा सकती है, क्योंकि वचन सामान्य (अन्यापोह) मात्रको कहते हैं, जो अवस्तु है, विशेष (स्वलक्षात्मक वस्तु) को नहीं और ऐसी दशामें समस्त वचन यथार्थतः वस्तुके वाचक न होनेसे मिथ्या (असत्य) ही हैं।

कारिका ३२ के द्वारा वस्तुको सर्वथा एक और सर्वथा अनेक दोनों (उभय) रूप अङ्गीकार करनेपर विरोध तथा अवाच्य (अनुभय)

स्वीकार करनेपर 'अवाच्य' शब्द द्वारा भी उसका निर्वचन न हो सकनेका दोष प्रदर्शित किया गया है।

३३–३६ तक ४ कारिकाओं द्वारा स्याद्वादनय (कथञ्चिद्वाद) से एक और अनेकके विरोधी युगलकी अपेक्षासे सप्तभङ्गीकी योजना करके वस्तुमें कथंचित् एक और कथंचित् अनेक आदि अनेकान्तकी पूर्ववत् स्थापना की गई है।

इस प्रकार दूसरे परिच्छेदमें एक (अद्वैत) और अनेक (द्वैत) के बारेमें रूढ़ एकान्त धारणाओंकी समालोचना करके इस युगलकी अपेक्षा वस्तुको सप्तभङ्गात्मक (अनेकान्तरूप) सिद्ध किया गया है।

तृतीय परिच्छेद :

तृतीय परिच्छेदमें ३७–६० तक २४ कारिकाएँ हैं। ३७–४० तक चार कारिकाओं द्वारा सांख्यदर्शनके एकान्त नित्यवादकी आलोचनामें कहा गया है कि प्रधान एवं पुरुषको सर्वथा नित्य स्वीकार करने पर उनमें किसी भी प्रकारके विकारकी सम्भावना नहीं हैं; क्योंकि उत्पत्तिसे पूर्व न किसीको कारक कहा जा सकता है और न ज्ञप्तिसे पूर्व किसीको प्रमाण कह सकते हैं। अकारकस्वभाव छोड़कर कारक-स्वभाव ग्रहण करनेरूप उत्पत्ति होनेके बाद कारक और अज्ञापकस्वभाव छोड़कर ज्ञापकस्वभाव ग्रहण करनेरूप ज्ञप्ति होनेके अनन्तर ज्ञापक (प्रमाण) व्यवहार होता है। एकरूप रहनेके कारण एकान्त नित्य (प्रधान व पुरुष) से किसीकी उत्पत्ति अथवा ज्ञप्ति आदिरूप कोई भी क्रिया सम्भव नहीं है और इसलिए उसे न कारक कहा जा सकता है और न प्रमाण। इन्द्रियोंसे जैसे घटादि अर्थकी अभिव्यक्ति होती है वैसे ही प्रधानरूप कारक या प्रमाणसे महदादिकी अभिव्यक्ति होती है, इस प्रकारकी मान्यता भी युक्त नहीं है, क्योंकि प्रमाण तथा कारक दोनोंरूप प्रधान सर्वथा नित्य होनेसे उसका अभिव्यक्तिके लिए भी व्यापार सम्भव नहीं है। अन्यथा अभिव्यक्तिसे पूर्व रहनेवाले अनभिव्यञ्जक स्वभावको छोड़ने तथा व्यञ्जक स्वभावको ग्रहण करनेरूप अवस्थान्तरको प्राप्त करनेसे उसे अनित्य मानना पड़ेगा। अतः महदादि प्रधानसे अभिव्यंग्य (विकार्य)

भी नहीं हो सकते। इसी तरह एकान्त नित्य पक्षमें पुरुषकी तरह सत्कार्यकी न उत्पत्ति सम्भव है और न अभिव्यक्ति, क्योंकि सदा विद्यमान रहनेसे उसमें किसी भी तरहका परिणमन (परिवर्तन), चाहे वह उत्पन्ति-रूप हो और चाहे अभिव्यक्तिरूप, नहीं बन सकता है। पुण्य, पाप, प्रेत्यभाव (पर्यायान्तर), बन्ध और मोक्ष ये सब परिणाम भी एकान्त नित्य (अपरिणा हैमो पुरुषवाद) में असम्भव हैं। नित्य जब सदा एकरूप (कूटस्थ) रहेगा तो उसमें कोई विकृति नहीं हो सकती। तथा बिना विकृतिके पुण्यपापादि, जो भिन्न कालोंमें होनेवाली अवस्थाविशेष हैं, कैसे सम्भव हैं, यह विचारणीय है।

४१–५४ तक चउदह कारिकाओं द्वारा एकान्त अनित्यपक्ष (क्षणिकवाद) में दोष दिये गये हैं। कहा गया है कि वस्तुको सर्वथा अनित्य (क्षणिक) स्वीकार करनेपर भी उक्त-प्रेत्यभावादि नहीं बन सकते, क्योंकि पूर्वापर क्षणोंमें परस्पर अन्वय (ध्रौव्यात्मक बन्धन-कड़ी) न होनेके कारण प्रत्यभिज्ञा, स्मरण, अनुभव, अभिलाषा आदि ज्ञानधारा प्रवाहित नहीं हो सकती। ऐसी दशामें न पूर्व क्षणको कारण और न उत्तर क्षणको कार्य कहा जा सकता है। सर्वथा क्षणिकवादमें न असत्कार्यकी उत्पत्ति, न कार्यकारणभाव, न हिंस्यहिंसकभाव, न गुरुशिष्यभाव, न पति-पत्नीभाव, न मातृपुत्रभाव, न बद्धमुक्तभाव और न स्कन्धसन्ततियाँ ही बन सकती हैं।

५४ के द्वारा सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य दोनों (उभयैकान्त) के स्वीकारमें विरोध और न सर्वथा नित्य तथा न सर्वथा अनित्य दोनोंके निषेधरूप (अनुभयैकान्त) में 'अवाच्य' शब्दसे उसका कथन न कर सकनेका दोष प्रदर्शित किया गया है।

५६–६० तक ५ कारिकाओं द्वारा स्याद्वादनयसे वस्तुको कथञ्चित् नित्य, कथञ्चित् अनित्य, कथञ्चित् उभय, कथञ्चित् अनुभय आदि सप्तभङ्गात्मक अनेकान्त सिद्ध किया है। इस प्रकार इस परिच्छेदमें नित्यानित्यके विरोधी युगलकी अपेक्षा पूर्ववत् सप्तभङ्गी दिखायी गई है। उल्लेखनीय है कि दो महत्त्वपूर्ण दृष्टान्तों (लौकिक एवं लोकोत्तर)

द्वारा भी वस्तुमें नित्यता (ध्रौव्य) और अनित्यता (उत्पाद-व्यय) दोनोंको प्रतीति सिद्ध बतलाया गया है।

चतुर्थ परिच्छेद :

चौथे परिच्छेदमें ६१–७२ तक १२ कारिकाएँ हैं, जिनके द्वारा भेद और अभेदका विचार किया गया है। ६१–६६ तक ६ कारिकाओंमें भेद (अन्यता) वादी वैशेषिकोंकी एकान्त भेद-मान्यताकी समीक्षा की गई है। कहा गया है कि यदि कार्य और कारणमें, गुण और गुणीमें तथा सामान्य और सामान्यवानों (द्रव्य-गुण-कर्म) में सर्वथा अन्यत्व (भेद) माना जाय तो एक (कार्य—अवयवी आदि) का अनेकों (कारणों—अवयवों आदि) में रहना (वृत्ति) सम्भव नहीं है; क्योंकि प्रश्न उठता है कि वह एक अनेकोंमें प्रत्येकमें अंशरूपसे रहता है या सम्पूर्णरूपसे ? प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं, कारण कि उस एकके अंशोंको नहीं माना है—उसे निरंश स्वीकार किया गया है। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि जितने कारण (अवयव) होंगे उतने ही कार्य (अवयवी) मानना पड़ेंगे। यदि उस एक (अवयवी) में अंश-कल्पना करें, जो यथार्थमें स्वकीय सिद्धान्त-विरुद्ध है, तो फिर उसे एक कैसे कहा जा सकता है—उसे सांश (अनेक) ही प्रतिपादन करना चाहिए। इस तरह सर्वथा भेदवादमें यह वृत्ति-दोष अनिवार्य है—जिसे दूर नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार इस भेद-वादमें सामान्य व समवायसम्बन्धको, जिन्हें भिन्न पदार्थ स्वीकार किया है, अपने आश्रयोंमें वृत्ति नहीं बनती। कारण यह है कि जिन नाशशील एवं उत्पादशील व्यक्तियों (घट-पट- गौ आदि) में उन दोनोंकी स्थिति स्वीकार की गई है उनके नाश या उत्पाद होनेपर उन दोनोंका न नाश होता है और न उत्पाद। ऐसी स्थितिमें आश्रयके बिना आश्रयी (सामान्य तथा समवाय) कहाँ और कैसे रहेंगे ? जब कि उन्हें प्रत्येक व्यक्तिमें सम्पूर्ण रूपसे रहनेवाला तथा नित्य और निष्क्रिय माना गया है। निष्क्रिय होनेसे वे नाशशील व्यक्तिके नाश और उत्पादशील व्यक्तिके उत्पादके समय अन्यत्र (दूसरे व्यक्तियोंमें) जा नहीं सकते तथा नित्य होनेसे वे व्यक्तिके साथ न नष्ट हो सकते हैं और न उत्पन्न। अतः

उनका विधान 'दुविधामें दोनों गये माया मिली न राम' कहावतको चरितार्थ करता है। अर्थात् सामान्य और समवाय दोनोंकी स्थिति भेदवाद-में डवाँडोल है। इसके अतिरिक्त सामान्य और समवायमें परस्पर सम्बन्ध सम्भव न होनेसे उनसे द्रव्य, गुण और कर्मका भी सम्बन्ध सम्भव नहीं है। सामान्य और समवायमें परस्पर सम्बन्ध क्यों सम्भव नहीं है? इसका कारण यह है कि वे द्रव्य न होनेसे उनमें संयोगसम्बन्ध तो स्वयं वैशेषिकोको भी इष्ट नहीं है। समवाय भी उनमें सम्भव नहीं है, क्योंकि उन्हें अवयव-अवयवी गुण-गुणी आदि रूपमें स्वीकृत नहीं किया गया। 'सामान्यं समवायि'—सामान्य समवायवाला है, इस प्रकारसे उनमें विशेषण-विशेष्य सम्बन्धकी भी सम्भावना नहीं है, क्योंकि एक समवायके सिवाय अन्य समवायान्तर वैशेषिकोंने नहीं माना। अन्यथा अनवस्था दोषसे वह मुक्त नहीं हो सकता। हाँ, उनमें एकार्थसमवाय की कल्पना की जा सकती थी, पर वह भी नहीं की जा सकती, क्योंकि घटत्वादि सामान्य घटादिमें समवायसे रह जानेपर भी समवाय उनमें समवेत नहीं है। स्पष्ट है कि वैशेषिकोंने समवाय के रहनेके लिए अन्य समवाय नहीं स्वीकार किया—एक ही सयवाय उन्होंने माना है। इस तरह जब सामान्य और समवाय दोनोंमें परस्पर सम्बन्ध सम्भव नहीं है तो ये असम्बद्ध रहकर द्रव्यादिसे सम्बन्धित नहीं हो सकते। फलतः तीनों (सामान्य, समवाय और द्रव्यादि) बिना सम्बन्धके खपुष्प तुल्य ठहरते हैं।

वैशेषिकोंमें कोई परमाणुओंमें पाक (अग्निसंयोग) होकर द्व्यणुकादि अवयवीमें क्रमशः पाक मानते हैं और कोई परमाणुओंमें किसी भी प्रकारकी विकृति न होनेसे उनमें पाक (अग्निसंयोग) न मानकर केवल द्व्यणुकादि (अवयवी) में पाक स्वीकार करते हैं। जो परमाणुओंमें पाक नहीं मानते उनका कहना है कि परमाणु नित्य (अप्रच्युत-अनुत्पन्न-स्थिरैकरूप) हैं और इसलिए वे द्व्यणुकादि सभी अवस्थाओंमें एकरूप बने रहते हैं—उनमें किसी भी प्रकारकी अन्यता (भिन्नरूपतारूप परिणति) नहीं होती उनमें सर्वदा अनन्यता (एकरूपता) विद्यमान रहती है। इसी (किन्हीं वैशेषिकोंकी) मान्यताको आ० समन्तभद्रने 'अणुओंका अनन्यतैकान्त'

कहा है और कारिका ६७ के द्वारा उसकी भी समीक्षा की है[1]। उन्होंने इस मान्यतामें दोषोद्‌घाटन करते हुए बताया है कि यदि अणु द्वयणुकादि संघातदशामें भी उसी प्रकारके बने रहते हैं जिस प्रकार वे विभागके समय हैं; (क्योंकि उनमें अन्यता भिन्नरूपता नहीं होती, अन्यथा उनमें अनित्यताका प्रसङ्ग आयेगा), तो वे असंहत (अमिश्र—बिना मिले) ही रहेंगे और उस हालतमें अवयवीरूप पृथिवी आदि चारों भूत भ्रान्त (मिथ्या) ही होंगे। और जब पृथिवी आदि अवयवीरूप कार्य भ्रान्त ठहरते हैं तो उनके जनक परमाणु भी भ्रान्त स्वतः सिद्ध हो जाते हैं, क्योंकि कार्य निश्चय ही अनुरूप कारणकी ही सूचना करता है। इस तरह वैशेषिकोंके अनन्यतैकान्तमें न वास्तविक पृथिव्यादिरूप अवयवी बनता है और न वास्तविक उनके कारणरूप परमाणु ही सिद्ध होते हैं तथा इन दोनोंके न बननेपर उनमें रहनेवाले गुण, जाति (सामान्य), विशेष समवाय और कर्म ये कोई भी पदार्थ घटित नहीं होते।

आगे कारिका ६८ के द्वारा सांख्योंके अनन्यतैकान्त (अभेदैकान्त) की भी आलोचना करते हुए कहा गया है कि यदि कार्य (महदादि) और कारण (प्रधान) दोनोंमें सर्वथा अनन्यता (अभेद) हो, तो उनमेंसे एकका अस्तित्व रहेगा, दूसरेका अभाव हो जायेगा। फलतः वह एक भी दूसरेका अविनाभावी होनेसे उसके अभावमें न रह सकेगा। इसके अतिरिक्त इस अभेदैकान्तमें कार्य और कारणकी लोकप्रसिद्ध द्वित्वसंख्या कभी भी उपलब्ध न होगी। यदि उसे संवृतिसे माना जाय तो वह संवृति मिथ्या ही है और इसलिए संवृति तथा शून्यता दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है।

कारिका ७० के द्वारा सर्वथा भेद और सर्वथा अभेद दोनोंके स्वीकारमें विरोध तथा न सर्वथा भेद और न सर्वथा अभेद अर्थात् अनुभय (अवाच्य) माननेमें 'अवाच्य' शब्द द्वारा भी उसका निरूपण न हो सकनेका दोष प्रदर्शित किया गया है।

१. अष्टसहस्री (पृ० २२२) में इस ६७वीं कारिकाके उत्थानिकावाक्यके आरम्भिक 'अपरः प्राह' पदपर टिप्पण देते हुए टिप्पणकारने जो उसका अर्थ 'सौगतः' दिया है वह ठीक नहीं है। यहाँ सारा सन्दर्भ वैशेषिकोंका है, सौगतोंका नहीं।

७१–७२ द्वारा उन अवयव-अवयवी, गुण-गुणी आदिमें कथञ्चित् भेद, कथञ्चित् अभेद आदि सप्तभङ्गी-प्रक्रियाकी योजना करके उनमें अनेकान्त सिद्ध किया है और यह दिखाया है कि किस तरह उनमें अभेद (एकत्व) है और किस तरह उनमें भेद (नानात्व) आदि है।

इस प्रकार इस परिच्छेदमें भेद और अभेदको लेकर विभिन्न वादियों द्वारा मान्य भेदैकान्त, अभेदैकान्त आदि एकान्तोंकी आलोचना और स्याद्वादनयसे उनमें अनेकान्तकी व्यवस्था की गई है।

पञ्चम परिच्छेद :

इस परिच्छेदमें ७३–७५ तक तीन कारिकाओं द्वारा उन वादियोंकी मीमांसा करते हुए जैन दृष्टि प्रस्तुत की गई है जो सर्वथा अपेक्षासे या सर्वथा अनपेक्षा आदिसे वस्तुस्वरूपकी सिद्धि मानते हैं। कारिका ७३ में कहा गया है कि यदि धर्म और धर्मीकी, विशेषण और विशेष्यकी, कार्य और कारणकी तथा प्रमाण और प्रमेय आदिकी सिद्धि सर्वथा अपेक्षासे मानी जाय तो उनकी कभी भी व्यवस्था नहीं हो सकती, क्योंकि वे उसी प्रकार अन्योन्याश्रित रहेंगे जिस प्रकार किसी नदीमें डूबते हुए दो तैराक एक दूसरेके आश्रय होते हैं और फलतः दोनों ही डूब जाते हैं। यदि उनकी सिद्धि सर्वथा अनपेक्षासे (स्वतः) ही स्वीकार की जाय तो अमुक कार्य-कारण हैं, अमुक धर्म-धर्मी हैं, अमुक विशेषण-विशेष्य हैं, अमुक प्रमाण-प्रमेय हैं और अमुक सामान्य-विशेष हैं, इस प्रकारका व्यवहार नहीं बन सकेगा, क्योंकि ये सब व्यवहार परस्परकी अपेक्षासे होते हैं।

कारिका ७४ में सर्वथा उभयवादियोंके उभयैकान्तमें विरोध और सर्वथा अनुभयवादियोंके अनुभयैकान्तमें 'अनुभय' शब्द द्वारा भी कथन न हो सकनेका दोष दिया गया है।

७५ द्वारा स्याद्वादनयसे वस्तुस्वरूपकी सिद्धि प्रदर्शित की गई है। कहा गया है कि धर्मधर्मिभाव, कार्यकारणभाव, विशेषणविशेष्यभाव और प्रमाणप्रमेयभावका व्यवहार तो अपेक्षासे सिद्ध होता है। परन्तु उनका स्वरूप स्वतः सिद्ध है। यथार्थमें कार्यमें कार्यता, कारणमें कारणता, प्रमाणमें प्रमाणता, प्रमेयमें प्रमेयता आदि स्वयं सिद्ध है वह परापेक्ष नहीं

है। अन्यथा किसी भी वस्तुका अपना स्वतंत्र स्वरूप नहीं बन सकेगा। जैसे कर्ताका स्वरूप कर्मापेक्ष और कर्मका स्वरूप कर्त्रपेक्ष नहीं है तथा बोधकका स्वरूप बोध्यापेक्ष और बोध्यका स्वरूप बोधकापेक्ष नहीं है। पर उनका व्यवहार अवश्य परस्पर-सापेक्ष है। उसी प्रकार धर्मधर्मी आदिका स्वरूप तो स्वयं सिद्ध है किन्तु उनका व्यवहार परस्पर सापेक्ष होता है। इस तरह इस परिच्छेदमें अपेक्षा और अनपेक्षाके विरोधी युगलमें भी सप्तभङ्गीको योजना करके अनेकान्तकी व्यवस्था की गई है।

षष्ठ परिच्छेद :

षष्ठ परिच्छेदमें ७६–७८ तक तीन कारिकाओं द्वारा हेतुवाद और अहेतुवादकी एकान्त मान्यताओंमें दोषोद्घाटन करते हुए उनमें सप्तभङ्गी-योजनापूर्वक समन्वय (अनेकान्तस्थापन) किया गया है।

कारिका ७६ में सर्वथा हेतुवादसे वस्तुसिद्धि मानने पर प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे वस्तुज्ञानके अभावका प्रसङ्ग तथा आगमसे सर्वसिद्धि स्वीकार करनेपर परस्पर विरुद्ध सिद्धान्तोंके प्रतिपादक वचनोंसे भी विरोधी तत्त्वोंकी सिद्धिका प्रसङ्ग दिया गया है।

कारिका ७७ में पूर्ववत् उभयैकान्तमें विरोध और आवाच्यतैकान्तमें 'अवाच्य' शब्दद्वारा भी उसका निर्वचन न कर सकनेका दोष प्रदर्शित है।

इस परिच्छेदकी अन्तिम ७८ वीं कारिकामें हेतुवाद और अहेतुवाद दोनोंसे वस्तुसिद्धि होनेका निर्देश करते हुए सप्तभङ्गात्मक अनेकान्त प्रदर्शित किया गया है। कहा गया है कि जहाँ आप्त वक्ता न हो वहाँ हेतुसे साध्यकी सिद्धि की जाती है और उस सिद्धिको हेतु-साधित कहा जाता है तथा जहाँ आप्त वक्ता हो वहाँ उसके वचनसे वस्तुकी सिद्धि होती है और वह सिद्धि आगम-साधित कही जाती है। इस प्रकार वस्तु-सिद्धिका अङ्ग उपायतत्त्व (हेतुवाद और अहेतुवाद) भी अनेकान्तात्मक है।

सप्तम परिच्छेद :

इस परिच्छेदमें ७९–८७ तक ९ कारिकाएँ हैं, जिनके द्वारा ज्ञानैकान्त और बाह्यार्थैकान्त आदि एक-एक एकान्तोंके स्वीकार करनेमें आनेवाले दोषोंको दिखलाते हुए निर्दोष अनेकान्तकी स्थापना की गई है।

कारिका ७९ के द्वारा बतलाया गया है कि यदि सर्वथा ज्ञानतत्त्व ही हो, बाह्य अर्थ न हो तो सभी बुद्धियाँ और सभी वचन मिथ्या हो जायँगे, क्योंकि दोनोंका प्रामाण्य बाह्य अर्थपर निर्भर है। जिनका ज्ञात बाह्यार्थ सत्य निकलता है उन्हें प्रमाण और जिनका सत्य नहीं निकलता उन्हें प्रमाणाभास कहा जाता है। परन्तु ज्ञानैकान्तवादमें बाह्यार्थको स्वीकार न करनेके कारण किसी भी बुद्धि और किसी भी वचनकी प्रमाणताका निश्चय नहीं हो सकता और इसलिये उन्हें मिथ्या ही कहा जावेगा। और जब वे मिथ्या हैं तो वे प्रमाणाभासकी कोटिमें प्रविष्ट हैं। किन्तु बिना प्रमाणके उन्हें प्रमाणाभास भी कैसे कहा जा सकता है। तात्पर्य यह कि सर्वथा ज्ञानतत्त्वके ही स्वीकार करनेपर प्रमाण और प्रमाणाभास दोनों ही नहीं बनते और उनके न बननेपर किस तरह ज्ञानमात्रको वास्तविक और बाह्यार्थको अवास्तविक सिद्ध किया जा सकता है।

८० के द्वारा साध्य और साधनकी विज्ञप्तिसे विज्ञप्तिमात्रतत्त्वकी सिद्धिके प्रयासको भी निरर्थक बतलाया गया है, क्योंकि उक्त प्रकारसे सिद्धि करने पर प्रतिज्ञादोष और हेतुदोष आते हैं। स्पष्ट है कि विज्ञप्ति-मात्रतत्त्वको मानने वालोंके यहाँ न साध्य है और न हेतु। अन्यथा द्वैतका प्रसङ्ग आयेगा।

८१ के द्वारा उन्हें दोष दिया गया है जो केवल बाह्यार्थ स्वीकार करते हैं, अन्तरङ्गार्थ (ज्ञान) को नहीं मानते। कहा गया है कि यदि सर्वथा बाह्यार्थ ही हो, ज्ञान न हो, तो न संशय होगा, न विपर्यय और न अनध्यवसाय। इतना ही नहीं, सत्यासत्यका निर्णय भी नहीं किया जा सकेगा। फलतः जो विरोधी अर्थका प्रतिपादन करते हैं उनके भी मोक्षादि कार्योंकी सिद्धि हो जायगी। इसके अतिरिक्त स्वप्नबुद्धियोंका स्वार्थके साथ सम्बन्ध न होनेसे उन्हें असंवादी नहीं कहा जा सकेगा।

कारिका ८२ के द्वारा सर्वथा उभयवादमें विरोध और सर्वथा अनुभय-वादमें 'अनुभय' शब्दसे भी उसका कथन न हो सकनेका दोष पूर्ववत् दिखाया गया है।

कारिका ८३ द्वारा स्याद्वादसे वस्तुव्यवस्था करनेपर कोई दोष नहीं आता, यह दिखलाते हुए कहा गया है कि स्वरूपसंवेदनकी अपेक्षा कोई

ज्ञान प्रमाणाभास नहीं है । पर बाह्य प्रमेयकी अपेक्षा प्रमाण और प्रमाणाभास दोनों हैं । जिस ज्ञानका बाह्य प्रमेय ज्ञात होनेके बाद वही उपलब्ध होता है वह प्रमाण है तथा जिसका बाह्य प्रमेय ज्ञात होनेके बाद वही उपलब्ध नहीं होता, अपितु अन्य ही मिलता है वह प्रमाणाभास है । इस तरह स्वरूपसंवेदनकी अपेक्षा सभी ज्ञान प्रमाण हैं, कोई प्रमाणाभास नहीं है । किन्तु बाह्य प्रमेयकी सत्यतासे प्रमाण और असत्यतासे प्रमाणाभास हैं । अतः प्रमाण और प्रमाणाभासकी व्यवस्था अन्तरङ्गार्थ (ज्ञान) और बाह्यार्थ दोनोंको स्वीकार करनेसे होती है, किसी एकसे नहीं । यही अनेकान्तरूप वस्तुतत्त्व है जिसकी स्याद्वादसे उक्त प्रकार व्यवस्था होती है ।

कारिका ८४ के द्वारा उन (बौद्धों) का समाधान किया गया है जो बाह्यार्थ नहीं मानते, केवल उसकी शाब्दिक (काल्पनिक) प्रतीति स्वीकार करते हैं । उनके लिए कहा गया है कि कोई भी शब्द क्यों न हो, उसका वाच्य बाह्यार्थ अवश्य होता है । उदाहरणार्थ जीव शब्दको ही लीजिए, उसका वाच्य बाह्यार्थ अवश्य है क्योंकि वह एक संज्ञा है । जो संज्ञा होती है उसका वाच्य बाह्यार्थ अवश्य होता है । जैसे हेतुशब्द अपने वाच्य हेतुरूप बाह्यार्थको लिए हुए है । यह भी उल्लेखनीय है कि जीव शब्दका प्रयोग शरीरमें या इन्द्रियों आदिके समूहमें नहीं होता, क्योंकि ऐसी लोकरूढि नहीं है । 'जीव गया, जीव मौजूद है' इस प्रकारका जिसमें व्यवहार होता है उसीमें यह लोकरूढि नियत है । कोई भी व्यक्ति यह व्यवहार न शरीरमें करता है, क्योंकि वह अचेतन है, न इन्द्रियोंमें करता है, क्योंकि वे मात्र उपभोगकी साधन हैं और न शब्दादि विषयोंमें करता है, क्योंकि वे भोग्य रूपसे व्यहृत होते हैं । वह तो भोक्ता आत्मामें 'जीव' यह व्यवहार करता है । अतः 'जीव' शब्द जीवरूप बाह्यार्थ सहित है । माया, अविद्या, अप्रमा आदि जो भ्रान्तिसूचक संज्ञाएँ हैं वे भी माया, अविद्या, अप्रमा आदि अपने भावात्मक अर्थोंसे सहित हैं । जैसे प्रमासंज्ञा अपने प्रमारूप अर्थसे सहित है । इन संज्ञाओंको मात्र वक्ताके अभिप्रायकी सूचिका भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि श्रोताओंकी जो उन संज्ञाओं (नामों) को सुनकर उस-उस अर्थक्रियामें प्रवृत्तिका नियम देखा जाता है वह अभिप्राय-

से सम्भव नहीं है । अतः संज्ञाओं (शब्दों) को अभिप्रायका सूचक नहीं मानना चाहिए, किन्तु उन्हें सत्यार्थ (बाह्यार्थ) का सूचक स्वीकार करना चाहिए ।

अगली ८५–८७ तक तीन कारिकाओंके द्वारा ग्रन्थकार अपने उक्त कथनका सबल समर्थन करते हुए प्रतिपादन करते हैं कि प्रत्येक वस्तुकी तीन संज्ञाएँ होती हैं । बुद्धिसंज्ञा, शब्दसंज्ञा और अर्थसंज्ञा । तथा ये तीनों संज्ञाएँ बुद्धि, शब्द और अर्थ इन तीनकी क्रमशः वाचिका हैं और तीनोंसे श्रोताको उनके प्रतिबिम्बात्मक बुद्धि, शब्द और अर्थरूप तीन बोध होते हैं । अतः 'जीव' यह शब्द केवल जीवबुद्धि या जीवशब्दका वाचक न होकर जीवअर्थ, जीवशब्द और जीवबुद्धि इन तीनोंका वाचक है । वास्तवमें उनके प्रतिबिम्बात्मक तीन बोध होनेसे उन तीनों संज्ञाओंके वाच्यार्थ तीन हैं, यह ध्यान देनेपर स्पष्ट हो जाता है । तात्पर्य यह कि प्रत्येक पदार्थ तीन प्रकारका है—बुद्ध्यात्मक, शब्दात्मक और अर्थात्मक । और तीनोंकी वाचिका तीन संज्ञाएँ हैं, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है और इस तरह समस्त संज्ञाएँ (शब्द) अपने अर्थ सहित हैं ।

यद्यपि विज्ञानवादीके लिए ऊपर कहा गया हेतु (संज्ञा होनेसे) असिद्ध है, क्योंकि उसके यहाँ विज्ञानके अलावा संज्ञा (शब्द) नहीं है । उसके लिए ग्रन्थकार कहते हैं कि जब हम कुछ कहते या सुनते या जानते हैं तो हम वक्ता, श्रोता या प्रमाता कहे जाते हैं और ये तीनों भिन्न-भिन्न हैं, एक नहीं हैं । तथा इन तीनोंके तीन कार्य भी अलग-अलग होते हैं । वक्ता अभिधेयका ज्ञान करके वाक्य बोलता है, श्रोता उसको श्रवण कर उसका बोध करता है और प्रमाता शब्द और अर्थरूप प्रमेयकी परिच्छित्ति (प्रमा) करता है । ये तीनों ही उन तीनोंके बिलकुल जुदे-जुदे कार्य हैं । विज्ञानवादी इन अनुभवसिद्ध पदार्थोंका अपन्हव करनेका साहस कैसे कर सकता है । ऐसी दशामें वह हेतुको असिद्धादि दोषोंसे युक्त नहीं कह सकता । यदि वह इन अनुभवसिद्ध पदार्थों (अभिधेय, अभिधेयके ग्राहक वक्ता और श्रोता) को विभ्रम कहे तो उसका विज्ञान-वाद और साधक प्रमाण भी विभ्रमकोटिमें आनेसे कैसे बच सकते हैं ।

और प्रमाणके विभ्रम होने पर उसे जो इष्ट अन्तर्ज्ञेय (ज्ञान) है वह और जो उसे इष्ट नहीं है ऐसा बहिर्ज्ञेय दोनों हो, जिन्हें तादृश (प्रमाणरूप) और इतर—अन्यादृश (अप्रमाणरूप) माना जाता है, विभ्रम ही सिद्ध होंगे। ऐसी हालतमें सर्वथा विज्ञानवादमें हेयोपादेयका तत्त्वज्ञान कैसे हो सकता है ?

यदि प्रमाणको अभ्रान्त कहें तो उसके लिए बाह्यार्थका स्वीकार आवश्यक है। उसके बिना प्रमाण और प्रमाणाभासकी व्यवस्था सम्भव नहीं है; क्योंकि उन्हीं ज्ञानों तथा शब्दोंमें प्रमाणता होती है जिनका बाह्यार्थ होता है और जिनका बाह्यार्थ नहीं होता उन्हें प्रमाणाभास माना जाता हैं। यथार्थमें जिस बुद्धिका ज्ञात अर्थ प्राप्त होता है उसे सत्य और जिसका ज्ञात अर्थ प्राप्त नहीं होता उसे असत्य कहा जाता है। इसी प्रकार जिस शब्दका अभिहित अर्थ मिलता है वह सत्य और जिसका अभिहित अर्थ नहीं मिलता उसे असत्य माना जाता है। इस प्रकार बाह्यार्थके सद्भाव और असद्भावमें ही बुद्धि और शब्द प्रमाण एवं प्रमाणाभास कहे जाते हैं। सर्वथा ज्ञानैकान्तमें यह प्रमाण और प्रमाणाभासकी व्यवस्था सम्भव नहीं है। अतः उक्त प्रकारसे बाह्यार्थ अवश्य सिद्ध होता है और उसके सिद्ध हो जानेपर वक्ता आदि तीन और उनके बोधादि तीन भी सिद्ध हो जाते हैं। अतएव उक्त 'संज्ञात्व' हेतु असिद्धादि दोष युक्त नहीं है।

इस प्रकार इस परिच्छेदमें ज्ञापकोपाय तत्त्वमें भी सप्तभङ्गीकी योजना करके उसे स्याद्वादनयसे अनेकान्तात्मक सिद्ध किया गया है।

अष्टम परिच्छेद :

इस परिच्छेदमें ८८–९१ तक चार कारिकाएँ हैं। ८८ वीं कारिकाके द्वारा सर्वथा दैववादकी मान्यतामें दोष दिखलाते हुए कहा है कि यदि एकान्ततः दैवसे ही इष्टानिष्ट वस्तुओंकी निष्पत्ति स्वीकार की जाय तो उसका निष्पादक दैव किससे निष्पन्न होता है, यह प्रश्न उपस्थित होता है ? उसकी निष्पत्ति पौरुषसे तो मानी नहीं जा सकती, क्योंकि 'सब पदार्थोंकी सिद्धि दैवसे ही होती है' इस मान्यताकी समाप्ति हो जाती है।

यदि उसकी निष्पत्ति अन्य दैवसे कही जाय तो मोक्ष कभी किसीको हो ही नहीं सकेगा, क्योंकि वह अन्य दैव पूर्व दैवसे उत्पन्न होगा और वह पूर्व दैव भी और पूर्ववर्ती दैवसे होगा और इस तरह पूर्व-पूर्व दैवोंका जहाँ तांता बना रहेगा वहाँ पौरुष निष्फल सिद्ध होगा।

८९ वीं कारिकाके द्वारा सर्वथा पौरुषवादको भी दोषपूर्ण बतलाते हुए कहा गया है कि यदि सर्वथा पौरुषसे ही सभी इष्टानिष्ट वस्तुओंकी निष्पत्ति हो तो पौरुष किससे उत्पन्न होता है, यह बताया जाय ? दैवसे तो उसकी उत्पत्ति कही नहीं जा सकती; क्योंकि 'पौरुषसे ही सब पदार्थोंकी सिद्धि होती है' यह प्रतिज्ञा टूट जाती है। अगर अन्य पौरुषसे उसकी निष्पत्ति कही जाय तो किसी भी प्राणीका पौरुष (प्रयत्न) निष्फल नहीं होना चाहिए—सभीका पौरुष सफल होना चाहिए। पर ऐसा दृष्टिगोचर नहीं होता। अतः दैवैकान्तकी तरह पौरुषैकान्त भी सदोष है और इसलिए वह भी ग्राह्य नहीं है।

करिका ९० के द्वारा उभयैकान्तमें विरोध और अनुभयैकान्तमें 'अनुभय' शब्दसे भी उसका प्रतिपादन न हो सकनेका दोष पूर्ववत् बताया गया है।

कारिका ९१ के द्वारा स्याद्वादसे पदार्थोंकी सिद्धि की गई है। जहाँ इष्टानिष्ट वस्तुओंका समागम बुद्धिव्यापारके बिना मिलता है वहाँ उनकी प्राप्ति दैवसे है और जहाँ उनका समागम बुद्धिव्यापारपूर्वक होता है वहाँ पौरुषकृत है।

इस प्रकार इस परिच्छेदमें दैवैकान्त, पौरुषैकान्त आदि एकान्तोंको त्रुटिपूर्ण बतलाते हुए उनमें स्याद्वादसे वस्तुसिद्धिकी व्यवस्था की गई है और यहाँ भी पूर्ववत् सप्तभङ्गीकी योजना दिखलाई है।

नवम परिच्छेद :

इस परिच्छेदमें पिछले परिच्छेदमें वर्णित दैवकारकोपायतत्त्वके पुण्य और पाप ये दो भेद करके उनकी स्थितिपर विचार किया गया है। पुण्य

किन कारणोंसे होता है और पाप किन बातोंसे, यही इस परिच्छेदका विषय है, क्योंकि पुण्य और पापके सम्बन्धमें भी ऐकान्तिक मान्यताएँ हैं।

इसमें चार कारिकाएँ है। ९२वीं कारिकाके द्वारा उस मान्यताकी समीक्षा की है जिसमें दूसरेमें दुःख उत्पन्न करनेसे पाप बन्ध और सुख उत्पन्न करनेसे पुण्य बन्ध स्वीकृत है। पर यह मान्यता युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर दूध आदि दूसरेमें सुख तथा कण्टकादि दुःख उत्पन्न करनेके कारण उनके भी पुण्यबन्ध और पापबन्ध मानना पड़ेगा। यदि कहा जाय कि चेतन ही बन्धयोग्य हैं, अचेतन दुग्धादि एवं कण्टकादि नहीं, तो वीतराग (कषाय रहित) भी पुण्य और पापसे बँधेंगे, क्योंकि वे अपने भक्तोंमें सुख और अभक्तोंमें दुःख उत्पन्न करनेमें निमित्त पड़ते हैं। यदि कहा जाय कि उनका उन्हें सुख-दुःख उत्पन्न करनेका अभिप्राय न होनेसे उन्हें पुण्य-पापबन्ध नहीं होता तो 'परमें सुख उत्पन्न करनेसे पुण्य और दुख उत्पन्न करनेसे पाप बन्ध होता है' यह एकान्त मान्यता नहीं रहती।

९३ कारिकाके द्वारा उन वादियोंकी भी मीमांसा की है जो कहते हैं कि अपनेमें दुःख उत्पन्न करनेसे तो पुण्य और सुख उत्पन्न करनेसे पापका बन्ध होता है। कहा गया है कि ऐसा सिद्धान्त मानने पर वीतराग मुनि और विद्वान् मुनि भी क्रमशः कायक्लेशादि दुःख तथा तत्त्वज्ञानादि सुख अपनेमें उत्पन्न करनेके कारण पुण्य-पापसे बँधेंगे। फलतः वे कभी भी संसार-बन्धनसे छुटकारा न पा सकेंगे। अतः यह एकान्त भी संगत प्रतीत नहीं होता।

९४ के द्वारा उभयैकान्तमें विरोध और अनुभयैकान्तमें 'अनुभय' शब्दसे भी उसका निर्वचन न हो सकनेका दोष पूर्ववत् प्रदर्शित किया गया है।

कारिका ९५ के द्वारा स्याद्वादसे पुण्य और पापकी व्यवस्था की गई है। युक्तिपूर्वक कहा गया है कि सुख-दुःख, चाहे अपनेमें उत्पन्न किये जायें और चाहे परमें। यदि वे विशुद्धि (शुभ परिणामों) अथवा संक्लेश (अशुभ परिणामों) से पैदा होते हैं या उन परिणामोंके जनक हैं तो

क्रमशः उनसे पुण्यास्रव और पापास्रव होता है। यदि ऐसा नहीं है तो जो दोष ऊपर दिया गया हैं उसका होना दुर्निवार है। यथार्थमें पुण्य और पाप अपनेको या परको सुख-दुःख पहुँचाने मात्रसे नहीं होते हैं, अपितु अपने शुभाशुभ परिणामोंपर उनका होना निर्भर है। जो सुख-दुःख शुभ परिणामोंसे जन्य हैं या उनके जनक हैं उनसे तो पुण्यका आस्रव होता है और जो अशुभपरिणामोंसे जन्य या उनके जनक हैं वे नियमसे पापास्रवके कारण या कार्य हैं। यह वस्तुव्यवस्था है। इस प्रकार स्याद्वादमें ही पुण्य और पापकी व्यवस्था बनती हैं, एकान्तवादमें नहीं।

दशम परिच्छेद :

इस अन्तिम परिच्छेदमें ९६–११४ तक बीस कारिकाएँ हैं। कारिका ९६ के द्वारा सांख्यदर्शनके उस सिद्धान्तकी समीक्षा की गई है जिसमें कहा गया है कि 'अज्ञानसे बन्ध होता है और ज्ञानसे मोक्ष'। परन्तु यह सिद्धान्त युक्त नहीं है, क्योंकि ज्ञेय अनन्त हैं और इसलिए किसी-न-किसी ज्ञेयका अज्ञान बना रहेगा। ऐसी स्थितिमें कभी भी कोई पुरुष केवली नहीं हो सकता। इसी प्रकार अल्पज्ञान (प्रकृति-पुरुषका विवेक मात्र) से मोक्ष मानना भी युक्त नहीं है, क्योंकि अल्पज्ञानके साथ बहुत-सा अज्ञान भी रहेगा। ऐसी दशामें बन्ध ही होगा, मोक्ष कभी न हो सकेगा। इस प्रकार विचार करनेपर ये दोनों ही एकान्त दोषपूर्ण हैं और इसलिए वे ग्राह्य नहीं है।

९७ के द्वारा उभयैकान्तमें विरोध और आवाच्यतैकान्तमें 'अवाच्य' शब्दके द्वारा भी उसका निर्देश न हो सकनेका दोष दिया गया है।

९८ के द्वारा स्याद्वादसे बन्ध और मोक्षकी व्यवस्था बतलाते हुए कहा है कि मोहसहित अज्ञानसे बन्ध होता है, मोहरहित अज्ञानसे नहीं। इसी तरह मोहरहित अल्पज्ञानसे मोक्ष सम्भव है और मोहसहित अल्पज्ञानसे नहीं। अतः बन्धका कारण केवल अज्ञान नहीं है और न मोक्षका कारण केवल अल्पज्ञान है। यथार्थमें मोहके सद्भावमें बन्ध और मोहके अभावमें मोक्ष अन्वय-व्यतिरेकसे सिद्ध होते हैं। अज्ञानका बन्धके साथ और ज्ञानका

मोक्षके साथ अन्वयव्यभिचार तथा व्यतिरेकव्यभिचार होनेसे उनका उनके साथ न अन्वय है और न व्यरिरेक। और जब उनका उनके साथ अन्वय-व्यतिरेक नहीं है तो उनमें कार्यकारणभाव भी नहीं बन सकता। अतः मोहसहित अज्ञानसे बन्ध और मोहरहित थोड़ेसे भी ज्ञानसे मोक्षकी व्यवस्था मानी जानी चाहिए।

कारिका ९९ में उनकी समीक्षा अन्तर्निहित है जो प्राणियोंकी अनेक प्रकारकी इच्छादि सृष्टिको ईश्वरकृत मानते हैं—उसे उनके शुभाशुभ-कर्मजन्य स्वीकार नहीं करते। ग्रन्थकार कहते हैं कि प्राणियोंकी इच्छादि विचित्र सृष्टि उनके स्वकर्मानुसार होती है, ईश्वर उसका कर्त्ता नहीं है। और उनका वह कर्म उनके शुभाशुभ परिणामोंसे अर्जित होता है, क्योंकि समस्त संसारी जीव शुद्धि (शुभ परिणाम) और अशुद्धि (अशुभ परिणाम) की अपेक्षासे दो भागोंमें विभक्त हैं।

उल्लिखित शुद्धि और अशुद्धि ये दोनों जीवोंकी एक प्रकारकी शक्तियाँ हैं जो उनमें पाक्य और अपाक्य शक्तियोंकी तरह नैसर्गिक होती हैं, यह कारिका १०० में प्रतिपादन है।

कारिका १०१ में जैन प्रमाणका स्वरूप और उसके अक्रमभावि तथा क्रमभावि ये दो भेद निर्दिष्ट हैं।

कारिका १०२ में प्रमाणफलका निर्देश करते हुए उसे दो प्रकारका बतलाया है—एक साक्षात्फल और दूसरा परम्पराफल। अक्रमभावि (केवल) प्रमाणका साक्षात्फल अज्ञाननिवृत्ति और परम्पराफल उपेक्षा (वस्तुओंमें रागद्वेषका अभाव) है। क्रमभावि प्रमाणका भी साक्षात्फल अज्ञाननाश है और परम्पराफल हानबुद्धि, उपादानबुद्धि तथा उपेक्षा-बुद्धि है।

कारिका १०३ में सूचित किया है कि वक्ताके प्रत्येक वाक्यमें उसके आशयका बोधक 'स्यात्' निपातपद प्रकट या अप्रकट रूपमें अवश्य विद्यमान रहता है जो एक धर्म (बोध्य) का बोधक (वाचक) होता हुआ अन्य अनेक धर्मों (अनेकान्त) का द्योतक होता है। यह बात सामान्य वक्ताके

वाक्योंके विषयमें ही नहीं है, केवलियोंके भी वाक्योंमें 'स्यात्' निपातपद निहित रहता है और वह एक (विवक्षित) धर्मका प्ररूपक होता हुआ अन्य सभी (अविवक्षित) धर्मोका अस्तित्वप्रकाशक होता है।

कारिका १०४ में उसी 'स्यात्' के वाद (मान्यता) अर्थात् स्याद्वाद को स्पष्ट किया गया है। कहा गया है कि किञ्चित्, कथञ्चित् शब्दोंसे जिसका विधान होता है और जिसमें एकान्तकी गन्ध नहीं है तथा जो सप्तभङ्गीनयसे विवक्षित (उपादेय) का विधायक एवं अविवक्षितों (हेयों —शेष धर्मों) का निषेधक (सन्मात्रसूचक) है वह स्याद्वाद है। कथञ्चिद्वाद, किञ्चिद्वाद इसीके पर्याय हैं।

कारिका १०५ में स्याद्वादका महत्त्व घोषित करते हुए कहा गया है कि तत्त्वप्रकाशनमें स्याद्वादका वही महत्त्व है जो केवलज्ञानका है। दोनों ही समस्त तत्त्वोंके प्रकाशक हैं। उनमें यदि अन्तर है तो इतना ही कि केवलज्ञान साक्षात् समस्त तत्त्वोंका प्रकाशक है और स्याद्वाद असाक्षात् (परोक्ष) उनका प्रकाशक है।

कारिका १०६ मे प्रतिपादन है कि उल्लिखित तत्त्वप्रकाशन स्याद्वाद (श्रुत—अहेतुवाद—आगम) के अतिरिक्त नयसे भी होता है और नयसे यहाँ हेतु विवक्षित है। जो स्याद्वादके द्वारा जाने गये अर्थके विशेष (धर्म) का गमक है तथा सपक्षके साधर्म्य एवं विपक्षके वैधर्म्य (अन्यथानुपपन्नत्व) को लिए हुए है अर्थात् साध्यका अविनाभावी होता हुआ साध्यका साधक है वह हेतु है। व्याख्याकारोंने इस कारिकामें ग्रन्थकार द्वारा नयलक्षणके भी कहे जानेका व्याख्यान किया है। उनके व्याख्यानके अनुसार नय तत्त्वज्ञानका वह महत्त्वपूर्ण उपाय है जो स्याद्वादद्वारा प्रमित अनेकान्तके एक-एक धर्मका बोध कराता है। समग्रका ग्राहक ज्ञान तो प्रमाण है और असमग्रका ग्राहक नय है। यही इन दोनोंमें भेद है।

कारिका १०७ में जैन सम्मत वस्तु (प्रमेय) का भी स्वरूप निरूपित है। ऊपर नयका निर्देश किया जा चुका है उसके तथा उसके भेदों-उपभेदों (उपनयों) के विषयभूत त्रिकालवर्ती धर्मों (गुण-पर्यायों) के समुच्चय (समष्टि) का नाम द्रव्य (वस्तु—प्रमेय) है। यह समुच्चय

संयोगादि सम्बन्धरूप न होकर कथञ्चित् अविभ्राड्भावसम्बन्ध (तादात्म्य) रूप है। वस्तुका कोई भी धर्म उसके शेष धर्मोंसे न सर्वथा भिन्न है और न सर्वथा अभिन्न। सभी धर्म परस्पर मैत्रीभावके साथ वस्तुमें वर्तमान हैं और वे सभी वस्तुकी आत्मा (स्वरूप) हैं। इस प्रकारके सहअस्तित्वात्मक सम्बन्धको अविष्वग्भावसम्बन्ध कहते हैं। वस्तु सत्सामान्य-की अपेक्षासे एक होती हुई भी धर्म-धर्मीके भेदसे अनेकरूप भी है। अथवा यों कहें कि वह न सर्वथा एक है और न सर्वथा अनेक है, अपितु एकाने-कात्मक जात्यन्तररूप है।

कारिका १०८ में उस शङ्काका समाधान प्रस्तुत है जिसमें कहा गया है कि जैन दर्शनमें एकान्तोंके समूहका नाम अनेकान्त है और एकान्तको मिथ्या (असत्य) माना गया है। अतः उनका समूह (अनेकान्त) भी मिथ्या कहा जायेगा। अनेक असत्य मिलकर एक सत्य नहीं बन सकता। इस लिए उक्त एकान्तसमुच्चयरूप अनेकान्तको जो ऊपर वस्तु कहा गया है वह सम्यक् नहीं है? इस शङ्काका समाधान करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि निरपेक्ष एकान्तोंके समूहको यदि मिथ्या कहा जाता है तो वह हमें इष्ट है; क्योंकि स्याद्वादियोंके यहाँ वस्तुमें निरपेक्ष एकान्तता नहीं है। स्याद्वादी सापेक्ष एकान्तको स्वीकार करते तथा उनके ही समूहको अनेकान्त मानते हैं, निरपेक्ष एकान्तोंके समूहको नहीं। उन्होंने स्पष्टतया निरपेक्ष नयों (एकान्तों) को मिथ्या (असत्य) और सापेक्षोंको वस्तु (सम्यक्—सत्य) कहा है, क्योंकि वे ही अर्थक्रियाकारी हैं।

कारिका १०९ में वाचकके स्वरूपकी भी स्याद्वाददृष्टिसे व्यवस्था की गई है। जो विधिवाक्यको केवल विधिका और निषेधवाक्यको केवल निषेधका नियामक मानते हैं उनकी समीक्षा करते हुए कहा गया है कि चाहे विधिवाक्य हो, चाहे निषेधवाक्य, दोनों ही विधि और निषेधरूप अनेकान्तात्मक वस्तुका बोध कराते हैं। जब विधिवाक्य बोला जाता है तो उसके द्वारा अपने विवक्षित विधि धर्मका प्रतिपादन होनेके साथ प्रतिषेध धर्मका भी मौन अस्तित्व स्वीकार किया जाता है—उसका निराकरण या लोप करके वह मात्र विधिका ही बोध नहीं कराता। इसी

प्रकार प्रतिषेधवाक्य भी अपने विवक्षित प्रतिषेध धर्मका कथन करनेके साथ अविनाभावी विधि धर्मका भी मौन ज्ञापन करता है—उसका निरास या उपेक्षा करके केवल निषेधको ही सूचित नहीं करता। इसका कारण यह है कि प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मा है—तद् और अतद् इन विरोधी धर्मोंको अपनेमें समाये हुए है। अतः कोई भी वाक्य उसके इस स्वरूपका लोप करके मनमानी नहीं कर सकता। हाँ, वह अपने विवक्षित वाच्यका मुख्यतया और शेषका गौणरूपसे अवगम कराता है। इसी तथ्यको प्रस्तुत करनेके लिए स्याद्वाददर्शनमें वक्ता द्वारा बोले गये प्रत्येक वाक्यमें 'स्यात्' निपात-पद कहीं प्रकट और कहीं अप्रकट रूपसे अवश्य रहता है। यदि विधिवाक्य या निषेधवाक्य केवल विधि या केवल निषेधके ही नियामक हों तो अन्य विरोधी धर्मका लोप होनेसे उसका अविनाभावी अभिधेय धर्मका भी अभाव हो जायेगा और तब वस्तुमें कोई भी धर्म (विशेषण) न रहने पर वह अविशेष्य (शून्य) हो जायगी।

११०–११३ तक चार कारिकाओंके द्वारा वाच्यके स्वरूपमें अङ्गीकृत एकान्तवादियोंके अभिनिवेशोंकी समीक्षा करते हुए स्याद्वादसे वाच्यके भी स्वरूपकी स्थापना की है। ग्रन्थकार कहते हैं कि प्रत्येक वचन (वाक्य) तद् और अतद् रूप वस्तुको कहता है, यह हम ऊपर देख चुके हैं, तो 'तद्रूप ही वस्तु है' ऐसा कथन करने वाला वचन सत्य नहीं है और जब वह सत्य नहीं तब असत्य वाक्योंके द्वारा तत्त्वार्थ (यथार्थ वस्तु) का उपदेश कैसे हो सकता है ? विधिवादियोंको इसपर गम्भीरतासे विचार करना चाहिए।

'अन्य नहीं' इतना ही प्रत्येक वचन सूचन करते हैं, यह एकान्त मान्यता भी युक्त नहीं है, क्योंकि वाणीका स्वभाव है कि वह अन्य वचन द्वारा प्रतिपाद्य अर्थका निषेध करती हुई अपने अर्थ सामान्यका भी प्रतिपादन करती है। जो वाणी ऐसी नहीं है वह खपुष्पके समान मिथ्या है।

वाणी केवल अन्यव्यावृत्तिरूप (अन्यापोह) सामान्यका प्रतिपादन करती है, विशेष (स्वलक्षण) का नहीं, यह कथन भी सम्यक् नहीं है, क्योंकि अन्यव्यावृत्ति मृषा होनेसे वह शब्दका अर्थ नहीं हो सकती। जिस शब्दसे जिस अर्थविशेषकी प्रतीति, प्राप्ति और जिसमें प्रवृत्ति हो वही उस शब्दका अर्थ है। तुच्छरूप अन्यव्यावृत्ति किसी भी शब्दसे ज्ञात या प्राप्त नहीं होती और न उसमें किसीकी प्रवृत्ति होती है। अतः वह शब्दका वाच्य नहीं है। चूंकि घटपटादि शब्दोंसे घटपटादि विशेष अभिप्रेतोंकी प्रतीति एवं प्राप्ति होती है और उन शब्दोंको सुनकर श्रोताकी उन्हींमें प्रवृत्ति होती है, अतः घटादि शब्दोंका वाच्य घटादि अभिप्रेत-विशेष हैं, अघटादिव्यावृत्ति नहीं। अतः 'स्यात्' पदसे अङ्कित वचन ही सत्यके सूचक एवं प्रकाशक हैं। जो वचन 'स्यात्' पदसे अङ्कित नहीं वे सत्यका प्रकाशन नहीं कर सकते।

जो अभीप्सित अर्थका कारण है और प्रतिषेध्य (विरोधी) का अविनाभावी है वही शब्दका विधेय है और वही आदेय तथा उसका प्रतिषेध्य हेय हैं। यथार्थमें वक्ताके लिये जो इष्ट हैं उसे कहने तथा जो इष्ट नहीं उसके निषेध करनेके लिये ही उसके द्वारा शब्दका प्रयोग किया जाता है और जिसके लिये शब्द प्रयोग है वही उसका वाच्य है। अतः शब्दका वाच्य न सर्वथा विधि है और न सर्वथा अन्यव्यावृत्ति (निषेध) है, अपितु उभयात्मक (अनेकान्तरूप) वस्तु उसकी वाच्य है। इस प्रकार सभी वस्तुएँ—प्रमाण, प्रमेय, वाचक, वाच्य आदि स्वभावतः स्याद्वाद-मुद्राङ्कित हैं।

इस अन्तिम परिच्छेदकी अन्तिम कारिका ११४ हैं। इसमें ग्रन्थका उपसंहार करते हुए ग्रन्थकारने अपनी प्रस्तुत कृतिका प्रयोजन प्रदर्शित किया है। कहा है कि हमने यह आप्तमीमांसा कल्याणके इच्छुक लोगोंके लिये की है, जिससे वे यह जान सकें, श्रद्धा कर सकें और समाचरण भी कर सकें कि सम्यक् कथन अमुक है और मिथ्या कथन अमुक है और इस तरह सम्यक् कथनकी सत्यता एवं उपादेयता तथा मिथ्या कथनकी असत्यता एवं हेयताका उन्हें अवधारण हो सके। इससे आचार्य महोदय-

के परहितसम्पादनप्रवण हृदयका और उनकी दर्शनविशुद्धि, प्रवचनवात्सल्य तथा मार्गप्रभावना जैसी उच्च भावनाओंका परिचय मिलता है।

(ग) देवागमकी व्याख्याएँ :

ऊपर देवागम और उसके प्रतिपाद्य विषयका कुछ परिचय दिया गया है। अब उसकी व्याख्याओंका भी परिचय देनेका प्रयास किया जाता है।

देवागमपर तीन व्याख्याएँ उपलब्ध हैं[1]—१. देवागम-विवृति (अष्टशती-भाष्य), २. देवागमालङ्कार (आप्तमीमांसालङ्कार–अष्टसहस्री) और ३. देवागमवृत्ति।

१. देवागम-विवृति :

इसके रचयिता आ० अकलङ्कदेव हैं। यह देवागमकी उपलब्ध व्याख्याओंमें सबसे प्राचीन और अत्यन्त दुरूह व्याख्या है। परिच्छेदोंके अन्तमें जो समाप्ति-पुष्पिकावाक्य पाये जाते हैं उनमें इसका आप्तमीमांसा-भाष्य (देवागम-भाष्य) के नामसे उल्लेख हुआ है।[2] आ० विद्यानन्दने

१. आ० विद्यानन्दने अष्टसहस्रीके अन्तमें आ० अकलङ्कदेवके समाप्ति-मङ्गलसे पूर्व 'केचित्' शब्दोंके साथ देवागमके किसी व्याख्याकारका 'जयति जगति' आदि समाप्ति-मङ्गल पद्य दिया है। उससे प्रतीत होता है कि अकलङ्कदेवसे पूर्व भी देवागमपर किसी आचार्यकी व्याख्या रही है, जो विद्यानन्दको प्राप्त थी या उसकी उन्हें जानकारी थी और उसपरसे ही उन्होंने उल्लिखित समाप्ति-मङ्गलपद्य दिया है। लघुसमन्तभद्र (वि० सं० १३ वीं शती) ने वादीभसिंहद्वारा देवागम (आप्तमीमांसा) के उपलालन—व्याख्यान करनेका उल्लेख अष्टसहस्री-टिप्पण (पृ० १) में किया है। पर वह भी आज अनुपलब्ध है। देवागमके महत्त्व और विश्रुतिको देखते हुए आश्चर्य नहीं कि उसपर विभिन्न कालोंमें विविध टीका-टिप्पणादि लिखे गये हों। अकलङ्कदेवने अष्टशती (का० ३३ की विवृति) में एक स्थानपर 'पाठान्तरमिदं बहु संगृहीतं भवति' शब्दोंका प्रयोग करके देवागमके पाठभेदों और उसकी अनेक व्याख्याओंकी ओर स्पष्ट संकेत किया है।

२. 'इत्याप्तमीमांसाभाष्ये दशमः परिच्छेदः ॥ छ ॥ १० ॥'

अष्टहस्रीके तृतीय परिच्छेदके आरम्भमें जो ग्रन्थ-प्रशंसामें पद्य दिया है उसमें उन्होंने इसका 'अष्टशती' नाम भी निर्दिष्ट किया है।[1] सम्भवतः आठसौ श्लोकप्रमाण रचना होनेसे इसे उन्होंने 'अष्टशती' कहा है। लगता है कि इस अष्टशतीको ध्यानमें रखकर ही अपनी 'देवागमालंकृति' व्याख्याको उन्होंने आठ हजार श्लोकप्रमित बनाया और 'अष्टसहस्री' नाम रखा। जो हो, इस तरह यह अकलङ्कदेवकी व्याख्या देवागम-विवृति, आप्तमीमांसा-भाष्य (देवागम-भाष्य) और अष्टशती इन तीनों नामोंसे जैन वाङ्मयमें विश्रुत है। इसका प्रायः प्रत्येक स्थल इतना जटिल एवं दुरवगाह है कि साधारण विद्वानोंका उसमें प्रवेश सम्भव नहीं है। उसके मर्म एवं रहस्यको अष्टसहस्रीके सहारे ही ज्ञात किया जा सकता है। भारतीय दर्शन-साहित्यमें इसकी जोड़की रचना मिलना दुर्लभ है। अष्ट-हस्रीके अध्ययनमें जिस प्रकार कष्टसहस्रीका अनुभव होता है उसी प्रकार इस अष्टशतीके अभ्यासमें भी कष्टशतीका अनुभव उसके अभ्यासीको पद-पदपर होता है।

२. देवागमालंकृति :

यह आ० विद्यानन्दकी अपूर्व एवं महत्त्वपूर्ण रचना है। इसे आप्त-मीमांसालंकृति, आप्तमीमांसालङ्कार और देवागमालङ्कार इन नामोंसे भी साहित्यमें उल्लिखित किया गया है। आठ हजार श्लोक प्रमाण होनेसे इसे लेखकने स्वयं 'अष्टसहस्री' भी कहा है।[2] देवागमकी जितनी व्याख्याएँ उपलब्ध हैं उनमें यह विस्तृत और प्रमेयबहुल व्याख्या है। इसमें देवा-

---

१. अष्टशती प्रथितार्था साष्टसहस्री कृतापि संक्षेपात् ।
विलसदकलङ्कधिषणैः प्रपञ्चनिचितावबोद्धव्या ॥
—अष्टस. पृ. १७८।

२. श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः ।
विज्ञायेत ययैव स्वसमय-परसमयसद्भावः ॥
—अष्टस० पृ० १५७।

गमकी कारिकाओं और उनके प्रत्येक पद-वाक्यादिका विस्तारपूर्वक अर्थोद्-घाटन किया है। साथ ही उपर्युक्त अष्टशतीके प्रत्येक पदवाक्यादिका भी विशद अर्थ एवं मर्म प्रस्तुत किया है। अष्टशतीको अष्टसहस्रीमें इस तरह आत्मसात् कर लिया गया है कि यदि दोनोंको भेद-सूचक पृथक्-पृथक् टाइपोंमें न रखा जाय तो पाठकको यह जानना कठिन है कि यह अष्टशती-का अंश है और यह अष्टसहस्रीका। विद्यानन्दने अष्टशतीके आगे, पीछे और मध्यको आवश्यक एवं अर्थोपयोगी सान्दर्भिक वाक्यरचना करके अष्टशतीको अष्टसहस्रीमें मणि-प्रवाल न्यायसे अनुस्यूत किया है और अपनी तलस्पर्शिनी अद्भुत प्रतिभाका चमत्कार दिखाया है। वस्तुतः यदि विद्या-नन्द यह देवागमालंकृति न रचते तो अष्टशतीका गूढ़ रहस्य अष्टशतीमें ही छिपा रहता और मेधावियोंके लिए वह रहस्यपूर्ण बनी रहती। देवागम और अष्टशतीके व्याख्यानोंके अतिरिक्त इसमें विद्यानन्दने कितना ही नया विचारपूर्ण प्रमेय और अपूर्व चर्चाएँ भी प्रस्तुत की हैं। व्याख्याकारने अपनी इस व्याख्याके महत्त्वकी उद्घोषणा करते हुए लिखा है[1]—'हजार शास्त्रोंका पढ़ना-सुनना एक तरफ है और एकमात्र इस कृतिका अध्ययन एक ओर है; क्योंकि इस एकके अभ्याससे ही स्वसमय और परसमय दोनोंका ज्ञान हो जाता है।' व्याख्याकारकी यह घोषणा न मदोक्ति है और न अतिशयोक्ति। अष्टसहस्री स्वयं इसकी निर्णायक है। देवागममें यतः दश परिच्छेद हैं अतः उसके व्याख्यानस्वरूप अष्टसहस्रीमें भी दश परिच्छेद हैं। प्रत्येक परिच्छेदका आरम्भ और समाप्ति दोनों एक-एक गम्भीर पद्य द्वारा किये गये हैं। इसपर लघुसमन्तभद्र (१३वीं शती) ने 'अष्टसहस्री विषमपदतात्पर्यटीका' और श्वेताम्बर विद्वान् यशोविजय (१७वीं शती) ने 'अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरण' नामकी व्याख्याएँ लिखी हैं, जो अष्टसहस्रीके विषमपदों, वाक्यों और स्थलोंका स्पष्टीकरण करती हैं। यह देवागमालंकृति कोई ५२ वर्ष पूर्व सन् १९१५ में सेठ नाथारङ्गजी गांधी द्वारा एक बार प्रकाशित हो चुकी है। पर वह अब अप्राप्य है। अब आधुनिक सम्पादनके साथ इसका दूसरा शुद्ध संस्करण प्रकट होना चाहिये।

३. देवागम-वृत्ति—यह देवागमकी लघुपरिमाणकी व्याख्या है। यह न अष्टशतीकी तरह दुरूह है और न अष्टसहस्रीके समान विस्तृत एवं गम्भीर है। कारिकाओंका व्याख्यान भी लम्बा नहीं है और न दार्शनिक विस्तृत ऊहापोह हैं। मात्र कारिकाओं और उनके पद-वाक्योंका शब्दार्थ और कहीं-कहीं फलितार्थ अतिसंक्षेपमें प्रस्तुत किया गया है। पर हाँ, कारिकाओंका अर्थ समझनेके लिये यह वृत्ति पर्याप्त उपयोगी है। इसके रचयिता आ. वसुनन्दि हैं, जिन्होंने वृत्तिके अन्तमें स्वयं लिखा है[1] कि 'मैं मन्दबुद्धि और विस्मरणशील व्यक्ति हूँ। मैंने अपने उपकारके लिए ही इस देवागमका संक्षिप्त विवरण किया है।' वृत्तिकारके इस स्पष्ट आत्म-निवेदनसे इस वृत्तिकी लघुरूपता और उसका प्रयोजन अवगत हो जाता है। उल्लेखनीय है कि वसुनन्दिके समक्ष देवागमकी ११४ कारिकाओंपर ही अष्टशती और अष्टसहस्री उपलब्ध होते हुए तथा 'जयति जगति' आदि कारिकाको विद्यानन्दके उल्लेखानुसार किसी पूर्ववर्ती आचार्यकी देवागम-व्याख्याका समाप्ति-मङ्गल-पद्य जानते हुए भी उन्होंने उसे देवागमकी ११५ वीं कारिका किस आधारपर माना और उसका विवरण किया ? यह चिन्तनीय है। हमारा विचार है कि प्राचीन कालमें साधुओंमें देवागमका पाठ करने और उसे कण्ठस्थ रखनेकी परम्परा रही है। वसुनन्दिने देवागमको ऐसी प्रतिपरसे कण्ठस्थ किया होगा जिसमें मूलमात्र देवागमकी ११४ कारिकाओंके साथ उक्त अज्ञात देवागम-व्याख्याका समाप्तिमङ्गल-पद्य भी अङ्कित कर दिया गया होगा और उसपर ११५ का अङ्क डाल दिया होगा। वसुनन्दिने अष्टशती और अष्टसहस्री टीकाओंपरसे जानकारी एवं अनुसन्धान किये बिना देवागमका अर्थ हृदयङ्गम रखनेके लिये यह देवागम-वृत्ति लिखी होगी और उसमें कण्ठस्थ सभी (११५) कारिकाओंका विवरण लिखा होगा। यही कारण

१. 'श्रीमत्समन्तभद्राचार्यस्य···देवागमाख्याः कृतेः संक्षेपभूतं विवरणं कृतं श्रुतविस्मरण-शीलेन वसुनन्दिना जडमतिनाऽऽत्मोपकाराय।'

—वसुनन्दि, देवागमवृत्ति पृ० ५०, सनातन, जैन ग्रन्थमा०

है कि प्रस्तुत वृत्तिमें न कहीं अष्टशतीके पदवाक्यादिका निर्देश मिलता है और न कहीं अष्टसहस्रीके। अस्तु। यह देवागमवृत्ति कलकत्ताकी सनातन जैन ग्रन्थमाला द्वारा सन् १९१४ में एक बार प्रकाशित हो चुकी है। यह अब अच्छे संस्करणके रूपमें पुनः मुद्रित होना चाहिए।

(घ) देवागम-रचनाका मूलाधार :

ऊपर देवागम और उसकी व्याख्याओंका परिचय देनेके बाद उसकी रचनाके मूलाधारपर भी यहाँ विचार किया जाता है।

आ. विद्यानन्दका जैन वाङ्मयमें सम्मानपूर्ण स्थान है और उनकी कृतियोंको आप्त-वचन जैसा माना जाता है। इन विद्यानन्दके उल्लेखानुसार स्वामी समन्तभद्रने देवागमकी रचना तत्त्वार्थसूत्रके आरम्भमें स्तुत आप्तकी मीमांसाके लिये की थी। उनके वे उल्लेख निम्न प्रकार हैं:—

(१) 'शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितं कृतिः…'

अष्टस. आदिमङ्गलश्लो. १, पृ० १।

(२) 'शास्त्रारम्भेऽभिष्टुतस्याप्तस्य मोक्षमार्गप्रणेतृतया कर्मभूभृद्भेत्तृतया विश्वतत्त्वानां ज्ञातृतया च भगवदर्हत्सर्वज्ञस्यैवान्ययोगव्यवच्छेदेन व्यवस्थापनपरा परीक्षेयं विहिता।'

अष्टस. पृ० २९४।

(३) श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य,
प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत्।
स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथित-पृथु-पथं स्वामि-मीमांसितं तत्
विद्यानन्दैः स्वशक्त्या………………………… ॥

आप्तप० का. १२३, पृ० २६२।

(४) '…इति संक्षेपतः शास्त्रादौ परमेष्ठिगुणस्तोत्रस्य मुनिपुङ्गवैर्विधीयमानस्यान्वयः सम्प्रदायाव्यवच्छेदलक्षणः पदार्थघटनलक्षणो वा लक्षणीयः, प्रपञ्चतस्तदन्वयस्याक्षेपसमाधानलक्षणस्य श्रीमत्समन्तभद्रस्वामिभिर्देवागमाख्याप्तमीमांसायां प्रकाशनात्।' आप्तप० का० १२०, पृ० २६१–२६२।

इन उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि तत्त्वार्थशास्त्र (तत्त्वार्थ, तत्त्वार्थसूत्र, निःश्रेयसशास्त्र या मोक्षशास्त्र) के आरम्भमें जिन 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि तीन असाधारण विशेषणोंसे आप्तकी वन्दना शास्त्रकार आ० उमास्वामीने की है उन्हीं विशेषणोंकी मीमांसा (सोपपत्ति विचारणा) स्वामी समन्तभद्रने आप्तमीमांसामें की है। तात्पर्य यह कि तत्त्वार्थसूत्रका 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि मङ्गलस्तोत्र आप्तमीमांसाकी रचनाका मूलाधार है। विद्यानन्दके उक्त उल्लेखोंमें आये हुए 'शास्त्रावतार-रचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितं', 'शास्त्रकारैः कृतं यत् स्तोत्रं....स्वामि-मीमांसितं तत्',....शास्त्रादौ परमेष्ठिगुणस्तोत्रस्य मुनिपुङ्गवैर्विधीयमानस्य ....तदन्वयस्याक्षेप-समाधानलक्षणस्य श्रीमत्समन्तभद्रस्वामिभिर्देवा-गमाख्याप्तमीमांसायां प्रकाशनात्' जैसे स्पष्ट और अर्थगर्भ शब्द विशेष ध्यान देने योग्य हैं जो आप्तमीमांसाको तत्त्वार्थसूत्रके मङ्गलस्तोत्रका व्याख्यान असन्दिग्ध घोषित कर रहे हैं। विद्यानन्दने अपने इस कथनको साधार और परम्परागत बतलानेके लिए उसे अकलङ्कदेवके अष्टशती-गत उस प्रतिपादनसे भी प्रमाणित किया है जिसमें अकलङ्कदेवने आप्तकी मीमांसा (परीक्षा) करनेके कारण समन्तभद्रपर किये जाने वाले अश्रद्धालुता और अगुणज्ञताके आक्षेपोंका उत्तर देते हुए कहा है कि ग्रन्थकारने देवागमादि मङ्गलपूर्वक की गई 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि स्तवके विषयभूत परमात्माके गुणविशेषोंकी परीक्षाको स्वीकार किया है, इससे उनमें श्रद्धा और गुणज्ञता दोनों बातें स्वयं आपन्न हो जाती हैं, क्योंकि उनमेंसे एककी भी कमी रहने पर परीक्षा सम्भव नहीं है। निश्चय ही ग्रन्थकारने शास्त्रन्याय (तत्त्वार्थशास्त्रकी पद्धति—मङ्गल-विधानपूर्वक शास्त्रकरण) का अनुसरण करके ही आप्तमीमांसाकी रचना-का उपक्रम किया है और इससे सहज ही जाना जा सकता है कि ग्रन्थ-कारमें श्रद्धा और गुणज्ञता दोनों हैं। अकलङ्कका वह प्रतिपादन इस प्रकार हैं :—

'देवागमेत्यादिमंगलपुरस्सरस्तवविषयपरमात्मगुणातिशयपरीक्षामुपक्षि-पतैव स्वयं श्रद्धागुणज्ञतालक्षणं प्रयोजनमाक्षिप्तं लक्ष्यते। तदन्यतरापायेऽर्थ-

स्यानुपपत्तेः । शास्त्रन्यायानुसारितया तथैवोपन्यासात् ।'

अष्टश० अष्टस० पृ० २ ।

विद्यानन्दने अकलङ्कदेवके इस प्रतिपादन और अपने उक्त कथनका इसी अष्टसहस्री (पृ० ३) में समन्वय भी किया है और इस तरह अपने निरूपणको उन्होंने परम्परागत सिद्ध करके उसमें प्रामाण्य स्थापित किया है ।

(ङ) 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' स्तोत्र तत्त्वार्थसूत्रका मङ्गलाचरण :

जहाँ विद्यानन्द और अकलङ्कदेवके उपर्युक्त उल्लेखोंसे सिद्ध है कि स्वामी समन्तभद्रकी आप्तमीमांसा 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि स्तोत्रके व्याख्यानमें लिखी गई है वहाँ विद्यानन्दके ही उक्त उल्लेखोंपरसे यह भी स्पष्ट है कि वे उक्त स्तोत्रको तत्त्वार्थ अथवा तत्त्वार्थशास्त्रका मंगलाचरण मानते हैं । तथा तत्त्वार्थ अथवा तत्त्वार्थशास्त्रसे उन्हें आचार्य गृद्धपिच्छरचित दशाध्यायी तत्त्वार्थसूत्र ही विवक्षित है ।[1] इस सम्बन्धमें पर्याप्त ऊहापोह एवं विस्तारपूर्वक विचार अन्यत्र किया जा चुका है ।[2] परन्तु कुछ विद्वान विद्यानन्दके उक्त उल्लेखोंका साभिप्राय अर्थविपर्यास करके उसे सर्वार्थसिद्धिकार पूज्यपाद-देवनन्दिकी रचना बतलाते हैं ।[3]

---

१. (क) कथं पुनस्तत्त्वार्थः शास्त्रं···येन तदारम्भे परमेष्ठिनामाध्यानं विधीयत इति चेत् तल्लक्षणयोगत्वात् ।···तच्च तत्त्वार्थस्य दशाध्यायीरूपस्यास्तीति शास्त्रं तत्त्वार्थः ।' —त० श्लो० पृ० २ ।

(ख) 'इति तत्त्वार्थशास्त्रादौमुनीन्द्रस्तोत्रगोचरा ।' आप्तप १२४ ।

(ग) दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति ।
फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुङ्गवैः ॥

२. 'तत्त्वार्थसूत्रका मङ्गलाचरण' शीर्षक लेखकके दो लेख अनेकान्त वर्ष ५, किरण ६–७, १०–११ ।

३. 'मोक्षमार्गस्य नेतारम् ? के कर्ता पूज्यपाद देवनन्दि', शीर्षक लेख, मुनि हजारीमल स्मृतिग्रन्थ पृ० ५६३ ।

उनका प्रयास है कि प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार द्वारा खोजपूर्ण अनेकविध प्रमाणोंसे निर्णीत स्वामी समन्तभद्रके विक्रम सं० दूसरी-तीसरी शताब्दीके समयको वि० सं० सातवीं–आठवीं शताब्दी सिद्ध किया जाय।

यहाँ उनकी स्थापनाओंको देकर उनपर सूक्ष्म और गहराईसे विचार किया जाता है :—

(१) आप्तपरीक्षागत प्रयोगोंसे सिद्ध है कि सूत्रकार शब्द केवल आ० उमास्वामीके लिए ही प्रयुक्त नहीं होता था, दूसरे आचार्योंके लिए भी उसका प्रयोग किया जाता था।

(२) तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकगत तत्त्वार्थसूत्रके प्रथम सूत्रकी अनुपपत्ति-उपस्थापन और उसके परिहारकी चर्चासे स्पष्ट कलित होता है कि विद्यानन्दके सामने तत्त्वार्थसूत्रके प्रारम्भमें 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोक नहीं था।

(३) अष्टसहस्री तथा आप्तपरीक्षाके कुछ विशेष उल्लेखोंसे सिद्ध होता है कि इसी श्लोकके विषयभूत आप्तकी मीमांसा समन्तभद्रने अपनी आप्तमीमांसामें की।

समीक्षा :

इन तीनों स्थापनाओंकी यहाँ समीक्षा की जाती है। प्रथम स्थापनाके समर्थनमें विद्यानन्दके ग्रन्थोंसे कोई ऐसा उल्लेख-प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया, जिसमें उन्होंने उमास्वामीके अतिरिक्त अन्य किसी आचार्यको सूत्रकार या शास्त्रकार कहा हो। तथ्य तो यह है कि विद्यानन्दने अपने किसी भी ग्रन्थमें उमास्वामीके सिवाय अन्य किसी ग्रन्थकर्ताको सूत्रकार या शास्त्रकार नहीं लिखा। जहाँ कहीं अन्य ग्रन्थकर्ताओंके उन्होंने अवतरण दिये हैं उन्हें उन्होंने उनके नामसे या ग्रन्थ नामसे या केवल 'तदुक्तम्' कहकर उल्लेखित किया है, सूत्रकार या शास्त्रकारके नामसे नहीं। सूत्रकार या शास्त्रकार शब्दका प्रयोग केवल उमास्वामीके लिए किया है। इस सम्बन्धमें हमने विद्यानन्दके ग्रन्थोंपरसे खोजकर १३ अवतरण उदाहरणार्थ

अन्यत्र दिये हैं[1], जिनसे स्पष्ट है कि विद्यानन्दकी प्रकृति अन्य आचार्योंको सूत्रकार या शास्त्रकार लिखनेकी नहीं रही, केवल उमास्वामीके लिए ही इन दोनों शब्दोंका उन्होंने प्रयोग किया है। किसी लेखकका जो सूत्र-लक्षण 'सूत्रं हि सत्यं सयुक्तिकं चोच्यते....' उन्होंने कहींसे उद्धृत किया है उससे इतना ही सिद्ध करना उन्हें अभिप्रेत है कि इस लक्षणानुसार भी तत्त्वार्थसूत्रके सूत्रोंमें सूत्रता है। उससे यह अभिप्राय कदापि नहीं निकाला जा सकता है कि उन्होंने अन्य लेखकको भी शास्त्रकार या सूत्रकार कहा है।

दूसरी स्थापनाके समर्थनमें जो यह कहा गया है कि उक्त मङ्गल-श्लोककी व्याख्याकारों द्वारा व्याख्या न होनेसे वह तत्त्वार्थसूत्रका मङ्गल-पद्य नहीं है वह भी युक्त नहीं है; क्योंकि व्याख्याकारोंको यह आवश्यक नहीं है कि वे व्याख्येय ग्रन्थके मङ्गलाचरणकी भी व्याख्या करें। उदाहरणार्थ श्वेताम्बर 'कर्मस्तव' नामक द्वितीय कर्मग्रन्थ और 'षडशीति' नामके चतुर्थ कर्मग्रन्थको लीजिए। इनमें मङ्गलाचरण उपलब्ध हैं। पर उनके भाष्यकारोंने अपने भाष्योंमें उनका भाष्य या व्याख्यान नहीं किया। फिर भी वे मङ्गलाचरण उन्हीं ग्रन्थोंके माने जाते हैं। एक अन्य उदाहरण और लीजिए, श्वेताम्बर तत्त्वार्थाधिगमसूत्रमूलके साथ जो ३१ सम्बन्ध-कारिकाएँ पायी जाती हैं उनका स्वोपज्ञ भाष्यमें कोई व्याख्यान या भाष्य नहीं किया गया। फिर भी उन्हें सूत्रकार-रचित माना जाता है। बात यह है कि व्याख्याकार मूलके उन्हीं पदों और वाक्योंकी व्याख्या करते हैं जो कठिन होते हैं या जिनके सम्बन्धमें विशेष कहना चाहते हैं। जो पद-वाक्यादि सुगम होते हैं उन्हें वे 'सुगमम्' कहकर या बिना कहे अव्याख्यात छोड़ देते हैं। 'मोक्षमार्गस्य....' श्लोक भी सुगम है। इसीसे उसकी व्याख्याकारोंने व्याख्या नही की।[2] अतः उक्त श्लोकको अव्याख्यात होनेसे सूत्रकारकृत असिद्ध नहीं कहा जा सकता।

१, २. 'तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण' शीर्षक लेख, अनेकान्त वर्ष ५, किरण ६-७, पृष्ठ २१२।

इस स्थापनाके समर्थनमें एक बात यह भी कही गई है कि विद्यानन्द-को यदि उक्त मङ्गल-स्तोत्र उमास्वामी प्रणीत अभिप्रेत होता तो वे 'प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थे.....' आदि सोत्थनिका वाक्य द्वारा अनुपपत्तिस्थापन और उसका परिहार न कर उसीका यहाँ निर्देश करते। इस सम्बन्धमें हम इतना ही पूछना चाहते हैं कि स्थापनाकारने उक्त उत्थानिकावाक्य सहित पद्योंसे उक्त अर्थ कैसे निकाला ? क्योंकि विद्यानन्दने यहाँ केवल उस प्रसङ्गोपात्त अनुपपत्तिको प्रस्तुत करके उसका परिहार किया है जिसमें अनुपपत्तिकारने कहा है कि जब न कोई मोक्षमार्गका प्रवक्ताविशेष है और न कोई प्रतिपाद्यविशेष, तब प्रथम सूत्रको रचना असंगत है ? इस अनुपपत्तिका परिहार करते हुए वे कहते हैं कि मुनीन्द्र (सूत्रकार) ने 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि मङ्गल-स्तोत्र द्वारा सर्वज्ञ, वीतराग और मोक्षमार्गके नेता-की स्तुति करके सिद्ध कर दिया है कि मोक्षमार्गका प्रवक्ताविशेष है और प्रतिपाद्यविशेष भी। और इसलिए भावी श्रेयसे युक्त होने वाले ज्ञान-दर्शनस्वरूप आत्माको मोक्षमार्गको जाननेकी अभिलाषा होनेपर सूत्र-कारद्वारा प्रथम सूत्रका रचा जाना संगत है। विद्यानन्दका वह पूरा स्थल इस प्रकार है :—

'ननु च तत्त्वार्थशास्त्रस्यादिसूत्रं तावदनुपपन्नं प्रवक्तृविशेषस्याभा-वेऽपि प्रतिपाद्यविशेषस्य च कस्यचित्प्रतिपित्सायामेव प्रवृत्तत्वादित्यनुप-पत्तिचोदनायामुत्तरमाह—

प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थे साक्षात्प्रक्षीणकल्मषे।
सिद्धे मुनीन्द्रसंस्तुत्ये मोक्षमार्गस्य नेतरि ॥
सत्यां तत्प्रतिपित्सायामुपयोगात्मकात्मनः।
श्रेयसा योक्ष्यमाणस्य प्रवृत्तं सूत्रमादिमम् ॥

तेनोपपन्नमेवेति तात्पर्यम्।'

त० श्लो० पृ० ४।

विद्यानन्दने यहाँ 'प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थे', 'साक्षात्प्रक्षीणकल्मषे' और 'मोक्षमार्गस्य नेतरि' पदोंके द्वारा आप्तके जिन गुणोंका उल्लेख किया है

वे वही हैं जो 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि स्तोत्रमें अभिहित हैं—उसीका यहाँ उन्होंने अनुवाद (दोहराना) किया है। 'सिद्धे मुनीन्द्रसंस्तुत्ये' पदके द्वारा तो उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि मुनीन्द्र (सूत्रकार) ने उक्त विशेषणोंसे आप्तकी स्तुति करनेके बाद ही आदिसूत्र रचा। हमें आश्चर्य है कि विद्यानन्दके जो उल्लेख स्थापनाकारके रंचमात्र भी साधक न होकर उनके लिए 'स्ववधाय कृत्योत्थापन' रूप हैं उन्हें प्रस्तुत करनेका साहस क्यों किया जाता है।

तीसरी स्थापनामें जो उक्त स्तोत्रके व्याख्यानस्वरूप आप्तमीमांसाके लिखे जानेकी बात कही गई है उसमें कोई विवाद नहीं है। पर जब उस स्तोत्रको विद्यानन्दके उल्लेखों द्वारा, जो स्थापनाकारके अभिप्रायके लेशमात्र भी साधक नहीं हैं, पूज्यपाद-देवनन्दिका सिद्ध करनेकी असफल चेष्टा की जाती है तब भारी आश्चर्य होता है। 'प्रोत्थानारम्भकाले' इस आप्तपरीक्षागत पदका सीधा और प्रकरणसंगत अर्थ है—प्रयत्नारम्भसमयमें अथवा अवतरणारम्भसमयमें। परन्तु इस सीधे अर्थको अङ्गीकार न कर उसका अर्थ किया गया है कि 'उत्थान शब्दका अर्थ है पुस्तक, अतएव प्रोत्थान शब्दका अर्थ हुआ प्रकृष्ट उत्थान अर्थात् वृत्ति या व्याख्यान, अतएव 'प्रोत्थानारम्भकाले' का अर्थ हुआ व्याख्यानारम्भकाले'। प्रश्न है कि प्रकृष्टज्ञानसे वृत्ति या व्याख्यानका ग्रहण कैसे कर लिया गया ? क्योंकि उसका समर्थन न किसी कोषसे होता है और न परम्परागत किसी स्रोतसे। यदि विद्यानन्दको उक्त स्तोत्र पूज्यपाद-देवनन्दिकी वृत्ति (सर्वार्थसिद्धि) का बताना इष्ट होता तो वे इतना बुद्धिव्यायाम न कर पाठकोंको उलझनमें न डालते और 'प्रोत्थानारम्भकाले' न लिखकर 'व्याख्यानारम्भकाले' लिख सकते थे। इसी तरह 'शास्त्रकारैः कृतं' के स्थानपर 'वृत्तिकारैः कृतं' दे सकते थे। इससे श्लोककी रचनामें कोई क्षति भी नहीं होती। किन्तु विद्यानन्दको यह सब इष्ट ही नहीं था। वे असन्दिग्ध रूपमें उक्त स्तोत्रको तत्त्वार्थशास्त्रका मानते थे और उसे शास्त्रकार—न कि वृत्तिकार रचित स्वीकार करते थे और शास्त्रकार या सूत्रकारसे उन्हें आ० गृद्धपिच्छ (उमास्वामी) ही अभिप्रेत थे।

अतः विद्यानन्दके तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकगत उक्त उल्लेख, अष्ट-सहस्रीमें आये 'शास्त्रारम्भेऽभिष्टुतस्याप्तस्य मोक्षमार्गप्रणेतृतया.....' आदि निर्देश और आप्तपरीक्षागत 'श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेः.... प्रोत्थानारम्भकाले....शास्त्रकारैः कृतं यत्। स्तोत्रं.....', 'इति तत्त्वार्थ-शास्त्रादौ मुनीन्द्रस्तोत्रगोचरा।' उल्लेखोंसे असन्दिग्ध है कि वे 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' स्तोत्रका कर्ता शास्त्रकारको मानते हैं और 'शास्त्रकार' से उन्हें एकमात्र तत्त्वार्थसूत्रकार आ० गृद्धपिच्छ ही विवक्षित हैं, सर्वार्थसिद्धिकार पूज्यपाद-देवनन्दि नहीं। विद्यानन्दने अपने सभी ग्रन्थोंमें 'शास्त्रकार' और 'सूत्रकार' पदोंका प्रयोग केवल तत्त्वार्थसूत्रके कर्ताके लिए किया है। इसी प्रकार तत्त्वार्थ, तत्त्वार्थशास्त्र या निःश्रेयस-शास्त्र शब्दोंका प्रयोग भी उन्हींके तत्त्वार्थसूत्रके लिए हुआ है, व्यापक या अन्य अर्थमें नहीं, यह हम ऊपर देख चुके हैं।

विद्यानन्दके उपर्युक्त उल्लेखोंके अलावा उक्त मङ्गलश्लोकको सूत्रकार—उमास्वामी कृत बतलाने वाला एक अति स्पष्ट, एवं अभ्रान्त उल्लेख और प्राप्त हुआ है। वह निम्न प्रकार है :—

'गृद्धपिच्छाचार्येणापि तत्त्वार्थशास्त्रस्यादौ 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इत्यादिना अर्हन्नमस्कारस्यैव परममंगलतया प्रथममुक्तत्वात्।'

गो० जी० म० प्र० टी० पृ० ४।

यह उल्लेख सात-आठसौ वर्ष प्राचीन गोम्मटसार जीवकाण्डकी मन्दप्रबोधिनी टीकाके रचयिता सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य अभयचन्द्र (१२ वीं–१३ वीं सदी) का है। इसमें उन्होंने उक्त मङ्गलस्तोत्रको गृद्धपिच्छाचार्यकृत स्पष्ट लिखा है और उसे तत्त्वार्थशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्र) के आरम्भमें उनके द्वारा रचा गया बतलाया है। उसे पूज्यपाद-देवनन्दिकी तत्त्वार्थवृत्तिका नहीं कहा। इससे प्रकट है कि आजसे सातसौ-आठसौ वर्ष पूर्व भी वह गृद्धपिच्छाचार्यके तत्त्वार्थसूत्रका मङ्गल-स्तोत्र माना जाता था। इस उल्लेखकी एक बात और ध्यातव्य है। वह यह कि प्राचीन समयमें तत्त्वार्थशास्त्र तत्त्वार्थसूत्रको ही कहा जाता था और उससे आचार्य गृद्धपिच्छ रचित तत्त्वार्थसूत्र ही लिया जाता था।

देवागम और उसकी व्याख्याओंके प्रसङ्गसे इतनी चर्चा करनेके उपरान्त अब उसके कर्त्ताके सम्बन्धमें भी विचार किया जाता है।

२. समन्तभद्र :

इस मूल्यवान् और महत्त्वपूर्ण कृतिके उपस्थापक आचार्य समन्तभद्र हैं, जो साहित्य और शिलालेखोंमें विशिष्ट सम्मानके प्रदर्शक 'स्वामी' पदसे विभूषित मिलते हैं। आ० कुन्दकुन्द और गृद्धपिच्छके पश्चात् जैन वाङ्मयको जिस मनीषीने सर्वाधिक प्रभावित किया और यशोभाजन हुआ वह यही स्वामी समन्तभद्र हैं। इनका यशोगान शिलालेखों तथा वाङ्मय-के मूर्धन्य ग्रन्थकारोंके ग्रन्थोंमें बहुलतया उपलब्ध है। अकलङ्कदेवने स्याद्वादतीर्थका प्रभावक और स्याद्वादमार्गका परिपालक, विद्यानन्दने स्याद्वादमार्गाग्रणी, वादिराजने सर्वज्ञका प्रदर्शक, मलयगिरिने आद्यस्तुतिकार तथा शिलालेखोंने वीरशासनकी सहस्रगुणी वृद्धि करनेवाला, श्रुतकेवलि सन्तानोन्नायक, समस्तविद्यानिधि, शास्त्रकर्त्ता एवं कलिकालगणधर कहकर उनका कीर्तिगान किया है। यथार्थमें जब तत्त्वनिर्णय ऐकान्तिक होने लगा और उसे उतना ही माना जाने लगा तथा आर्हत-परम्परा ऋषभादि तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित तत्त्व-व्यवस्थापक स्याद्वादन्यायको भूलने लगी, तो इसी महान् आचार्यने उसे उज्जीवित एवं प्रभावित किया। अतः ऐसे शासन-प्रभावक और तत्त्वज्ञानप्रसारक मूर्धन्य मनीषीका विद्वानों द्वारा गुणगान हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

इनका विस्तृत परिचय और समयादिका निर्णय श्रद्धेय पं० जुगल-किशोरजी मुख्तारने अपने 'स्वामी समन्तभद्र' नामक इतिहास-ग्रन्थमें दिया है। वह इतना प्रमाणपूर्ण, अविकल और शोधात्मक है कि ४२ वर्ष बाद भी उसमें संशोधन, परिवर्तन या परिवर्धनकी गुंजाइश प्रतीत नहीं होती। वह आज भी बिल्कुल नया और चिन्तनपूर्ण है। उसमें इतनी सामग्री है कि उसपर शोधार्थी अनेक शोध-प्रबन्ध लिख सकते हैं। अतएव यहाँ समन्तभद्रके परिचयादिकी पुनरावृत्ति न करके केवल उनकी उपलब्धियोंपर प्रकाश डालनेका प्रयास करेंगे।

(क) समन्तभद्रसे पूर्वका युग

जैन अनुश्रुतिके अनुसार जैनधर्मके प्रवर्त्तक क्रमशः कालके अन्तरालको लिए चौबीस तीर्थंकर हुए हैं। इनमें प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव, बाईसवें अरिष्टनेमि, तेईसवें पार्श्वनाथ और चौबीसवें वर्द्धमान-महावीर तो ऐतिहासिक और लोकप्रसिद्ध भी हैं। इन तीर्थंकरोंके द्वारा जो उपदेश दिया गया वह द्वादशाङ्ग कहा गया है। जैसे बुद्धके उपदेशको त्रिपिटक कहा जाता है। वह द्वादशाङ्गश्रुत दो भागोंमें विभक्त है—१ अङ्ग-प्रविष्ट और २. अङ्गबाह्य। ये दो भेद प्रवक्ताविशेषके कारण हैं। जो श्रुत तीर्थङ्करों तथा उनके प्रधान एवं साक्षात् शिष्योंद्वारा उक्त है वह अङ्गप्रविष्ट है। तथा जो इसके आधारसे उत्तरवर्ती प्रवक्ताओंद्वारा रचा गया वह अङ्गबाह्य है। अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्यके भी क्रमशः बारह और चउदह भेद हैं। अङ्गप्रविष्टके बारह भेदोंमें एक दृष्टिवाद है जो बारहवाँ श्रुत है। इस बारहवें दृष्टिवादश्रुतमें[1] विभिन्न वादियोंकी एकान्त दृष्टियों एवं मान्यताओंके निरूपण और समीक्षाके साथ उनका स्याद्वादन्यायसे समन्वय किया गया है। इस तथ्यको समन्तभद्रने अपनी कृतियोंमें 'स्याद्वादिनो नाथ तवैव युक्तम्' जैसे पदप्रयोगों द्वारा व्यक्त किया है[2] और सभी तीर्थंकरोंको स्याद्वादी (स्याद्वाद-प्रतिपादक) कहा है। अकलङ्कदेवने भी उन्हें स्याद्वादका प्रवक्ता तथा उनके शासन—उप-देशको स्याद्वादके अमोघ लांछनसे चिन्हित बतलाया है।[3]

---

१. '…एषां द्रष्टिशतानां त्रयाणां षष्ट्युत्तराणां प्ररूपणं निग्रहश्च क्रियते।'—वीर-सेन, धवला पुस्तक १, पृ० १०८।

२. बन्धश्च मोक्षश्च तयोश्च हेतू बद्धश्च मुक्तश्च फलं च मुक्तेः।
स्याद्वादिनो नाथ! तवैव युक्तं नैकान्तदृष्टेस्त्वमतोऽसि शास्ता॥
स्वयम्भूस्तो० श्लो० १४।

३. (क) धर्मतीर्थकरेभ्योऽस्तु स्याद्वादिभ्यो नमोनमः।
ऋषभादिमहावीरान्तेभ्यः स्वात्मोपलब्धये॥
लघीय० का० १—१।

षट्खण्डागममें यद्यपि स्याद्वादकी स्वतंत्र चर्चा नहीं मिलती, फिर भी सिद्धान्त-प्रतिपादन 'स्यात्' (सिया) शब्दको लिए हुए अवश्य मिलता है। उदाहरणार्थ मनुष्योंको पर्याप्तक तथा अपर्याप्तक दोनों बतलाते हुए कहा गया है कि 'सिया पजत्ता, सिया अपजत्ता' अर्थात् मनुष्य स्यात् पर्याप्तक हैं, स्यात् अपर्याप्तक हैं। इसी प्रकारसे आगमके कुछ दूसरे विषयोंका भी प्रतिपादन उपलब्ध होता है। आ० कुन्दकुन्दने उक्त दो (विधि और निषेध) वचन-प्रकारोंमें पाँच वचन-प्रकार और मिलाकर सात वचन-प्रकारोंसे वस्तु (द्रव्य) निरूपणका स्पष्ट उल्लेख किया है। यथा—

सिय अत्थि णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं।
दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि।

पंचास्तिकाय गा० १४।

'स्यादस्ति द्रव्यं स्यान्नास्ति द्रव्यं स्यादुभयं स्यादवक्तव्यं स्यादस्त्यवक्तव्यं स्यान्नास्त्यवक्तव्यं स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यं।' इन सात भङ्गोंका यहाँ उल्लेख हुआ है और उनको लेकर आदेशवशात् (नय-विवक्षानुसार) द्रव्य-निरूपण करनेकी सूचना की है। कुन्दकुन्दने यह भी प्रतिपादन किया है[1] कि यदि सद्रूप ही द्रव्य हो तो उसका विनाश नहीं हो सकता और यदि असद्रूप ही हो तो उसका उत्पाद सम्भव नहीं है और चूँकि यह देखा जाता है कि जीव मनुष्यपर्यायसे नष्ट, देवपर्यायसे उत्पन्न और जीवसामान्यसे ध्रुव रहनेसे वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप है।

(ख) श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलांछनम्।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम्॥

प्रमाणसं० १। १।

(ग) वन्दित्वा परमार्हतां समुदयं गां सप्तभङ्गीविधिं।
स्याद्वादामृतगर्भिणीं प्रतिहतैकान्तान्धकारोदयाम्॥

अष्टश० मङ्गलश्लो० १।

१. पंचास्तिकाय गा० १५, १७।

इससे प्रतीत होता है कि कुन्दकुन्दके समयमें जैन वाङ्मयमें दर्शनका रूप तो आने लगा था, पर उसका अभी विकास नहीं हो सका था। आ० गृद्धपिच्छ-के तत्त्वार्थसूत्रमें कुन्दकुन्दद्वारा प्रदर्शित दर्शनके रूपमें कुछ वृद्धि मिलती है। एक तो उन्होंने प्राकृतमें सिद्धान्त-प्रतिपादनकी पद्धतिको संस्कृत-गद्य-सूत्रोंमे वदल दिया। दूसरे, उपपत्तिपूर्वक सिद्धान्तोंका निरूपण आरम्भ किया। तीसरे, आगम-प्रतिपादित ज्ञानमार्गणागत मत्यादि ज्ञानोंको प्रमाण-संज्ञा देना, उसके प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेद करना, दर्शनान्तरोंमें पृथक् प्रमाणरूपमें स्वीकृत स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और अनुमानको मतिज्ञान कहकर उनका 'आद्ये परोक्षम्' (त० सू० १-११) सूत्रद्वारा परोक्षप्रमाणमें ही अन्तर्भाव करना और नैगमादि नयोंको अर्थाधिगमका उपाय बताना आदि नया चिन्तन प्रारम्भ किया। इतना होनेपर भी दर्शनमें उन एकान्तवादों, संघर्षो और अनिश्चयोंका तार्किक समाधान नहीं आ पाया था, जो उस समयकी चर्चाके विषय थे।

(ख) तत्कालीन स्थिति :

विक्रमकी दूसरी-तीसरी शताब्दीका समय भारतवर्षके इतिहासमें दार्शनिक क्रान्तिका समय रहा है। इस समय विभिन्न दर्शनोंमें अनेक क्रान्तिकारी विद्वान् हुए हैं। श्रमण और वैदिक दोनों परम्पराओंमें अश्व-घोष, मातृचेट, नागार्जुन, कणाद, गौतम, जैमिनि जैसे प्रतिद्वन्द्वी विद्वानोंका आविर्भाव हुआ और ये सभी अपने मण्डन और दूसरेके खंडनमें लग गये। शास्त्रार्थोंकी बाढ़-सी आ गई। सद्वाद-असद्वाद, शाश्वतवाद-उच्छेदवाद, अद्वैतवाद-द्वैतवाद और अवक्तव्यवाद-वक्तव्यवाद इन चार[1] विरोधी युगलोंको लेकर तत्त्वकी मुख्यतया चर्चा होती थी और उनका चार कोटियोंसे विचार किया जाता था। तथा वादियोंका अपनी इष्ट एक-एक कोटि (पक्ष) को ही माननेका आग्रह रहता था। इस खींचतानके कारण अनिश्चय (अज्ञान)

---

१. 'सदेकनित्यवक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नयाः।
सर्वथेति प्रदुष्यन्ति पुष्यन्ति स्यादितीह ते॥
स्वयम्भू० श्लो० १०१।

वादी संजयके अनुयायी तत्त्वको अनिश्चित ही बतलाते थे।[1] उपर्युक्त युगलोंमें लगनेवाली चार कोटियाँ इस प्रकार होती थीं—

१ सदसद्वाद

(१) तत्त्व सत् है।
(२) तत्त्व असत् है।
(३) तत्त्व उभय है।
(४) तत्त्व अनुभय है।

२. शाश्वत्-अशाश्वद्वाद

(१) तत्त्व शाश्वत है।
(२) तत्त्व अशाश्वत है।
(३) तत्त्व उभय है।
(४) तत्त्व अनुभय है।

३. द्वैत-अद्वैतवाद

(१) तत्त्व द्वैत है।
(२) तत्त्व अद्वैत है।
(३) तत्त्व उभय है।
(४) तत्त्व अनुभय है।

४. वक्तव्यावक्तव्यवाद

(१) तत्त्व वक्तव्य है।
(२) तत्त्व अवक्तव्य है।
(३) तत्त्व उभय है।
(४) तत्त्व अनुभय है।

---

१. दीघनिकाय सामञ्ञफलसुत्तमें संजयका मत 'अमरा विक्षेपवाद' के रूपमें मिलता है। अमरा एक प्रकारकी मछलीका नाम है। उसके समान विक्षेप (अस्थिरता) का होना—मानना अमराविक्षेपवाद है।

(ग) समन्तभद्रकी देन

समन्तभद्रने प्रतिपादन किया कि तत्त्व उक्त चार ही कोटियोंमें समाप्त नहीं है, अपि तु सात कोटियोंमें वह पूर्ण होता है।[1] उन्होंने स्पष्ट किया कि तत्त्व तो अनेकान्त रूप है[2]—एकान्तरूप नहीं और अनेकान्त विरोधी दो धर्मों (सत्-असत्, शाश्वत्-अशाश्वत्, एक-अनेक आदि) के युगलके आश्रयसे प्रकाशमें आनेवाले वस्तुगत सात धर्मोंका समुच्चय है[3] और ऐसे-ऐसे अनन्त सप्तधर्म-समुच्चय विराट् अनेकान्तात्मक तत्त्व-सागरमें अनन्त लहरोंकी तरह लहरा रहे हैं और इसीसे उसमें अनन्त सप्तकोटियाँ (सप्तभङ्गियाँ) भरी पड़ी हैं। हाँ, दृष्टाको सजग और समदृष्टि होना चाहिए। उसे यह ध्यान रहे कि वक्ता या ज्ञाता तत्त्वको जब अमुक एक कोटिसे कहे या जाने तो यह समझे कि तत्त्वमें वह धर्म अमुक अपेक्षा से रहता हुआ भी अन्य धर्मोंका निषेधक नहीं है। केवल वह विवक्षावश

---

१. स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः।
सप्तभङ्गनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः॥ आप्तमी० १०४।

२. (अ) 'तत्त्वं त्वनेकान्तमशेषरूपम्'—युक्त्यनु० ४६।
(आ) एकान्तदृष्टिप्रतिषेधि तत्त्वं प्रमाणसिद्धं तदतत्स्वभावम्।
स्वयम्भू० ४१।

(इ) न सच्च नासच्च न दृष्टमेकमात्मान्तरं सर्वनिषेधगम्यम्।
दृष्टं विमिश्रं तदुपाधिभेदात् स्वप्नेऽपि नैतत्त्वदृषेः परेषाम्॥
—युक्त्य० ३२।

३. (क) विधिर्निषेधोऽनभिलाप्यता च त्रिरेकशस्त्रिर्द्विश एक एव।
त्रयो विकल्पास्तव सप्तधाऽमी स्याच्छब्दनेयाः सकलेऽर्थभेदे॥
युक्त्य० ४५।

(ख) विधेयं वार्यं चानुभयमुभयं मिश्रमपि तद्
विशेषैः प्रत्येकं नियमविषयैश्चापरिमितैः।
सदन्योन्यापेक्षैः सकलभुवनज्येष्ठगुरुणा
त्वया गीतं तत्त्वं बहुनयविवक्षेतरवशात्॥
स्वयम्भू० ११८।

मुख्य और अन्य धर्म गौण हैं।[1] इसे समझनेके लिये उन्होंने प्रत्येक कोटि (भङ्ग—वचनप्रकार) के साथ 'स्यात्' निपात-पद लगानेकी सिफारिश की[2] और 'स्यात्' का अर्थ 'कथञ्चित्'—किसी एक दृष्टि—किसी एक अपेक्षा बतलाया।[3] साथ ही उन्होंने प्रत्येक कोटिकी निर्णयात्मकताको प्रकट करने के लिए प्रत्येक वाक्यके साथ एवकार पदका प्रयोग भी निर्दिष्ट किया[4], जिससे उस कोटिकी वास्तविकता प्रमाणित हो, काल्पनिकता या सांवृतिकता नहीं। तत्त्वप्रतिपादनकी इन सात कोटियोंको उन्होंने एक नया नाम भी दिया। वह नाम है भङ्गिनी प्रक्रिया—सप्तभङ्गी[5] अथवा सप्तभङ्गनय।[6] समन्तभद्रकी वह परिष्कृत सप्तभङ्गी इस प्रकार प्रस्तुत हुई—

---

१. (क) विधिर्निषेधश्च कथञ्चिदिष्टौ
विवक्षया मुख्यगुणव्यवस्था।
स्वयम्भू० २५।

(ख) विवक्षितो मुख्य इतीष्यतेऽन्यो गुणोऽविवक्षो न निरात्मकस्ते।
स्वयम्भू० ५३।

२. (अ) वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषणम्।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तव केवलिनामपि॥
आप्तमी० का० १०३।

(आ) तद्द्योतनः स्याद् गुणतो निपातः
युक्त्य० ४३।

३. स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः।
आप्तमी० १०४।

४. (क) यदेवकारोपहितं पदं तदस्वार्थतः स्वार्थमवच्छिनत्ति।
युक्त्य० ४१।

(ख) अनुक्ततुल्यं यदनेवकारं व्यावृत्त्यभावान्नियमद्वयेऽपि।
युक्त्य० ४२।

५. प्रक्रियां भङ्गिनीमेनां नयैर्नयविशारदः।
आप्तमी० २३।

६. 'सप्तभङ्गनयापेक्षः.........' आप्तमी० १०४।

सदसद्वाद

(१) स्यात् सद्रूप ही तत्त्व है।[1]
(२) स्यात् असद्रूप ही तत्त्व है।
(३) स्यात् उभयरूप ही तत्त्व है।
(४) स्यात् अनुभय (अवक्तव्य) रूप ही तत्त्व है।
(५) स्यात् सद् और अवक्तव्यरूप ही तत्त्व है।[2]
(६) स्यात् असद् और अवक्तव्यरूप ही तत्त्व है।
(७) स्यात् सद् और असद् तथा अवक्तव्य रूप ही तत्त्व है

इस सप्तभङ्गीमें प्रथम भङ्ग स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे, द्वितीय परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे, तृतीय दोनोंकी सम्मिलित् अपेक्षाओंसे, चतुर्थ दोनों (सत्त्व-असत्त्व) को एक साथ कह न सकनेसे, पंचम प्रथम-चतुर्थके संयोगसे, षष्ठ द्वितीय-चतुर्थके मेलसे और सप्तम तृतीय-चतुर्थके मिश्ररूपसे विवक्षित है और प्रत्येक भङ्गका प्रयोजन पृथक्-पृथक् है। जैसा कि समन्तभद्रके निम्न प्रतिपादनसे प्रकट है :

सदेव सर्वं को नेच्छेत्स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते॥

क्रमार्पितद्वयाद् द्वैतं सहावाच्यमशक्तितः।
अवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयो भङ्गाः स्वहेतुतः॥

धर्मे धर्मेऽन्य एवार्थो धर्मिणोऽनन्तधर्मिणः।
अङ्गित्वेऽन्यतमान्तस्य शेषान्तानां तदङ्गिता॥

आप्तमी० का० १५, १६, २१।

१. कथंचित्ते सदेवेष्टं कथञ्चिदसदेव तत्।
तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा॥
आप्तमी० १४।

२. अवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयो भङ्गाः स्वहेतुतः॥
आप्तमी० १६।

समन्तभद्रने सदसद्वादकी तरह अद्वैत-द्वैतवाद, शाश्वत-अशाश्वतवाद, वक्तव्य-अवक्तव्यवाद, अन्यता-अनन्यतावाद, अपेक्षा-अनपेक्षावाद, हेतु-अहेतुवाद, विज्ञान-बहिरर्थवाद, दैव-पुरुषार्थवाद, पाप-पुण्यवाद और बन्ध-मोक्षकारणवाद इन एकान्त वादोंपर भी विचार प्रकट किया तथा उक्त प्रकारसे उनमें भी सप्तभङ्गी (सप्तकोटियों) की योजना करके स्याद्वादकी स्थापना की ।[1] इस तरह विचारकोंको उन्होंने स्याद्वाद-दृष्टि (तत्त्व-विचारकी पद्धति) देकर तत्कालीन विचार-संघर्षको मिटानेमें महत्त्वपूर्ण योगदान किया । साथ ही दर्शनके लिए जिन उपादानोंकी आवश्यकता होती है उनका भी उन्होंने सृजन किया तथा आर्हत दर्शनको अन्य दर्शनोंके समकक्ष ही नहीं, उसे गौरवपूर्ण भी बनाया ।

जिन उपादानोंको उन्होंने सृष्टि करके उन्हें जैन दर्शनको प्रदान किया वे इस प्रकार हैं :

१. प्रमाणका स्वपरावभासि लक्षण[2] ।
२. प्रमाणके अक्रमभावि और क्रमभावि भेदोंकी परिकल्पना[3] ।
३. प्रमाणके साक्षात् और परम्परा फलोंका निरूपण ।[4]
४. प्रमाणका विषय[5]
५. नयका स्वरूप[6]
६. हेतुका स्वरूप[7]
७. स्याद्वादका स्वरूप[8]

---

१. आप्तमी० का० २३, ११३ ।
२. स्वयम्भूस्तोत्र का० ६३ ।
३. आप्तमीमांसा का० १०१ ।
४. उपेक्षा फलमाद्यस्य शेषस्यादान-हान-धीः ।
पूर्वाऽवाऽज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे ॥ —आप्तमी० १०२ ।
५. आप्तमी० १०७ ।
६., ७. आप्तमी० १०६ ।
८. आप्तमी० १०४ ।

८. वाच्यका स्वरूप[1]
९. वाचकका स्वरूप[2]
१०. अभावका वस्तुधर्म-निरूपण एवं भावान्तर कथन[3]
११. तत्त्वका अनेकान्तरूप प्रतिपादन[4]
१२. अनेकान्तका स्वरूप[5]
१३. अनेकान्तमें भी अनेकान्तकी योजना[6]
१४. जैनदर्शनमें अवस्तुका स्वरूप[7]
१५. स्यात् निपातका स्वरूप[8]
१६. अनुमानसे सर्वज्ञकी सिद्धि[9]
१७. युक्तियोंसे स्याद्वादकी व्यवस्था[10]
१८. आप्तका तार्किक स्वरूप।[11]
१९. वस्तु (द्रव्य-प्रमेय) का स्वरूप।[12]

जैन न्यायके इन उपादानोंका विकास अथवा उपस्थापन करनेके कारण ही समन्तभद्रको जैन न्यायका आद्य-प्रवर्तक कहा गया है।[13]

१. आप्तमी० १११, ११२।
२. आप्तमी० १०९।
३. 'भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्मः,
भावान्तरं भाववदर्हतस्ते। —युक्त्यनु० ५९।
४. युक्त्यनु० २३।
५. आप्तमी० १०७, १०८।
६. स्वयम्भूस्तो० १०३।
७. आप्तमी० ४८, १०५।
८. स्वयम्भू० १०२।
९. आप्तमी० ५।
१०. आप्तमी० ११३।
११. जैन दर्शन—स्याद्वादाङ्क वर्ष २, अङ्क ४-५, पृ० १७०।
११. आप्तमी० का० ४, ५, ६।
१२. आप्तमी० १०७।

(ध) कृतियाँ

समन्तभद्रकी ५ कृतियाँ उपलब्ध हैं :

१. देवागम—प्रस्तुत कृति है।

२. स्वयम्भूस्तोत्र—इसमें चौबीस तीर्थकरोंका दार्शनिकशैलीमें गुण-स्तवन है।

३. युक्त्यनुशासन—इसमें भी वीरकी स्तुतिके बहाने दार्शनिक निरूपण है। यह ६४ पद्योंमें समाप्त है।

४. जिन-शतक (स्तुति-विद्या)—यह ११६ पद्योंको आलंकारिक अपूर्व काव्य-रचना है। चौबोस तीर्थंकरोंकी इसमें स्तुति की गई है।

५. रत्नकरण्डकश्रावकाचार—यह उपासकाचार विषयक १५० पद्यों-की अत्यन्त प्राचीन और महत्त्वपूर्ण कृति है।

इनमें आदिकी तीन दार्शनिक, चौथी काव्य और पाँचवीं धार्मिक कृतियाँ हैं।

इनके अतिरिक्त भी इनकी जीवसिद्धि जैसी कुछ कृतियोंके उल्लेख मिलते हैं पर वे अनुपलब्ध हैं।

उपसंहार

प्रस्तुत प्रस्तावनामें देवागम और स्वामी समन्तभद्रके सम्बन्धमें प्रकाश डाला गया है। इसी सन्दर्भमें देवागमकी व्याख्याओं और उसकी रचनाका प्रेरणास्रोतपर भी अनुचिन्तन प्रस्तुत किया गया है। प्रस्तावना यद्यपि अधिक लम्बी हो गई है तथापि उसमें किया गया विचार पाठकोंको लाभप्रद होगा।

अन्तमें प्रस्तुत ग्रन्थके अनुवादक एवं सम्पादक तथा जैन साहित्य व इतहासके वेत्ता श्रद्धेय पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारके इस देवागम-अनुवादकी सराहना करूँगा। देवागम जैसे दुरवगाह दर्शन-ग्रन्थका बड़े परिश्रम के साथ ग्रन्थानुरूप हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत करके समन्तभद्रभारतीके

उपासकोंको उन्होंने बड़ा लाभ पहुँचाया है। परम प्रमोदका विषय है कि वे ९० वर्षकी वयमें भी शासन-सेवामें संलग्न हैं। हम उनके शतवर्षी होनेकी हृदयसे कामना करते हैं।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, दरबारीलाल कोठिया

२९ मार्च, १९६७

विषय-सूची

श्रीमत्स्वामि-समन्तभद्राचार्य-विरचित

देवागम

(जिनदेवागम-ज्ञापक-स्तोत्र)

अपरनाम

आप्त-मीमांसा

(सम्यग्मिथ्योपदेशाऽर्थविशेष-प्रतिपत्तिरूपा)

स्पष्टार्थादियुक्त-मूलानुगामी अनुवादसे भूषित

श्री-समन्तभद्र-महर्षये नमः

अनुवादकीय-मंगल-प्रतिज्ञा

श्रीवर्द्धमानमभिनम्य समन्तभद्रं
सद्बोध-चारुचरिता-ऽनघवाक्स्वरूपम् ।
देवागमं तदनुपमं वर-बोध-शास्त्रं
व्याख्यामि लोक-हित-शान्ति-विवेक-वृद्ध्यै ॥

'जो सम्यग्ज्ञानमय हैं, सच्चारित्ररूप हैं और जिनके वचन निर्दोष हैं उन समन्तभद्र (सब ओरसे भद्ररूप—मंगलमय) श्रीवर्द्धमान (भगवान महावीर) को तथा श्रीवर्द्धमान (विद्या-विभूति, कीर्ति आदि लक्ष्मीसे वृद्धिको प्राप्त हुए) समन्तभद्र-(स्वामी समन्तभद्राचार्य) को (अलग-अलग तथा एक साथ) नमस्कार करके, मैं (उनका विनम्र सेवक जुगलकिशोर) लौकिक-जनोंकी हित-वृद्धि, शान्ति-वृद्धि और विवेक-वृद्धिके लिये उस 'देवागम' की (स्पष्टार्थ आदिसे युक्त हिन्दी अनुवादरूप) व्याख्या करता हूँ, जो कि उत्तम ज्ञानकी शास्ति—शिक्षाको लिये हुए—सम्यक् तथा मिथ्या उपदेशके अर्थविशेषकी प्रतिपत्ति—जानकारी करानेवाला—अनुपम शास्त्र है और स्वामी समन्तभद्रकी एक अद्वितीय कृति है ।'

देवागमादि विभूतियाँ आप्त-गुरुत्वकी हेतु नहीं

देवागम-नभोयान-चामरादि-विभूतयः ।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥१॥

(हे वीरजिन !) **देवोंके आगमनके कारण**—स्वर्गादिकके देव आपके जन्मादिक कल्याणकोंके अवसरपर आपके पास आते हैं इसलिए—**आकाशमें गमनके कारण**—गगनमें बिना किसी विमानादिकी सहायताके आपका सहज-स्वभावसे विचरण होता है इस हेतु—**और चामरादि-विभूतियोंके कारण**—चँवर, छत्र, सिंहासन, देवदुन्दुभि, पुष्पवृष्टि, अशोकवृक्ष, भामण्डल और दिव्य-ध्वनि-जैसे अष्ट प्रातिहार्योंका तथा समवसरणकी दूसरी विभूतियोंका आपके अथवा आपके निमित्त प्रादुर्भाव होता है इसकी वजहसे—**आप हमारे**—मुझ—जैसे परीक्षा-प्रधानियोंके—**गुरु—पूज्य अथवा आप्तपुरुष नहीं हैं**—भले ही समाजके दूसरे लोग या अन्य लौकिक जन इन देवागमनादि अतिशयोंके कारण आपको गुरु, पूज्य अथवा आप्त मानते हों। **क्योंकि ये अतिशय मायावियोंमें**—मस्करि-पूरणादि इन्द्रजालियोंमें—**भी देखे जाते हैं**। इनके कारण ही यदि आप गुरु, पूज्य अथवा आप्त हों तो वे मायावी इन्द्रजालिये भी गुरु, पूज्य तथा आप्त ठहरते हैं; जब कि वे वैसे नहीं हैं। अतः उक्त कारण-कलाप व्यभिचार-दोषसे दूषित होनेके कारण अनैकान्तिक हेतु है, उससे आपकी गुरुता एवं विशिष्टताको पृथक्

रूपसे लक्षित नहीं किया जा सकता और न दूसरोंपर उसे ख्यापित ही किया जासकता है।'

(यदि यह कहा जाय कि उन मायावियोंमें ये अतिशय सच्चे नहीं होते—बनावटी होते हैं—और आपके साथ इनका सम्बन्ध सच्चा है तो इसका नियामक और निर्णायक कौन ? आगमको यदि नियामक और निर्णायक बतलाया जाय तो आगम उन मायावियोंका भी है—वे अपने वचनरूप आगमके द्वारा उन अतिशयोंको मायाचारजन्य होनेपर भी सत्य ही प्रतिपादित करते हैं। और यदि अपने ही आगम (जैनागम) को इस विषयमें प्रमाण माना जाय तो उक्त हेतु आगमाश्रित ठहरता है, और एक मात्र उसीके द्वारा दूसरोंको यथार्थ वस्तु-स्थितिका प्रत्यय एवं विश्वास नहीं कराया जा सकता। अतः उक्त कारण-कलापरूप हेतु आपकी महानता एवं आप्तताको व्यक्त करनेमें असमर्थ है और इसीसे मेरे जैसोंके लिए एक प्रकारसे उपेक्षणीय है।)

बहिरन्तर्विग्रहादिमहोदय आप्त-गुरुत्वका हेतु नहीं

अध्यात्मं बहिरप्येष विग्रहादि-महोदयः।
दिव्यः सत्यो दिवौकस्स्वप्यस्ति रागादिमत्सु सः ॥२॥

'**यह जो आपके शरीरादिका अन्तर्बाह्य महान् उदय** है—अन्तरंगमें शरीर क्षुधा-तृषा-जरा-रोग-अपमृत्यु आदिके अभावको और बाह्यमें प्रभापूर्ण अनुपम सौन्दर्यके साथ गौर-वर्ण-रुधिरके संचार-सहित निःस्वेदता, सुरभिता एवं निर्मलताको लिए हुए है—**जो साथ ही दिव्य** है—अमानुषिक है—**तथा सत्य** है—मायादिरूप मिथ्या न होकर वास्तविक है और मायावियोंमें नहीं पाया जाता—,(उसीके कारण यदि आपको महान्,पूज्य एवं आप्तपुरुष माना जाय, तो यह हेतु भी व्यभिचार-दोषसे दूषित

है; क्योंकि) **वह** (विग्रहादि-महोदय) **रागादिसे युक्त**—राग-द्वेष-काम-क्रोध-मान-माया-लोभादि कषायोंसे अभिभूत—**स्वर्गके देवोंमें भी पाया जाता है**—वही यदि महानता एवं आप्तताका हेतु हो तो स्वर्गोंके रागी, द्वेषी, कामी तथा क्रोधादि-कषाय-दोषोंसे दूषित देव भी महान् पूज्य एवं आप्त ठहरें; परन्तु वे वैसे नहीं हैं, अतः इस 'अन्तर्बाह्य-विग्रहादि-महोदय' विशेषणके मायावियोंमें न पाये जानेपर भी रागादिमान् देवोंमें उसका सत्त्व होनेके कारण वह व्यावृत्ति-हेतुक नहीं रहता और इसलिए उससे भी आप—जैसे आप्त-पुरुषोंका कोई पृथक् बोध नहीं हो सकता।'

(यदि यह कहा जाय कि घातिया कर्मोंका अभाव होनेपर जिस प्रकारका विग्रहादि-महोदय आपके प्रकट होता है उस प्रकारका विग्रहादि-महोदय रागादियुक्त देवोंमें नहीं होता तो इसका क्या प्रमाण ? दोनोंका विग्रहादि-महोदय अपने प्रत्यक्ष नहीं है, जिससे तुलना की जा सके। यदि अपने ही आगमको इस विषयमें प्रमाण माना जाय तो यह हेतु भी 'आगमाश्रित ठहरता है और एक मात्र इसीसे दूसरोंको यथार्थ वस्तु-स्थितिका प्रत्यय एवं विश्वास नहीं कराया जा सकता। अतः यह विग्रहादि-महोदय हेतु भी आपकी महानता व्यक्त करनेमें असमर्थ होनेसे मेरे जैसोंके लिए उपेक्षणीय है।)

तीर्थकरत्व भी आप्त-गुरुत्वका हेतु नहीं; तब गुरु कौन ?

तीर्थकृत्समयानां च परस्पर-विरोधतः।
सर्वेषामाप्तता नास्ति, कश्चिदेव भवेद्गुरुः ॥३॥

'(यदि यह कहा जाय कि आप तीर्थंकर हैं—संसारसे पार उतरनेके उपायस्वरूप आगम-तीर्थके प्रवर्तक हैं—और इसलिए आप्त—सर्वज्ञ होनेसे महान् हैं, तो यह कहना भी समुचित प्रतीत

नहीं होता; क्योंकि तीर्थंकर तो दूसरे सुगतादिक भी कहलाते हैं और वे भी संसारसे पार उतरने अथवा निर्वृति प्राप्त करनेके उपायस्वरूप आगमतीर्थके प्रवर्तक माने जाते हैं, तब वे सब भी आप्त–सर्वज्ञ ठहरते हैं, अतः तीर्थंकरत्व हेतु भी व्यभिचार-दोषसे दूषित है। और यदि सभी तीर्थंकरोंको आप्त अथवा सर्वज्ञ माना जाय तो यह बात भी नहीं बनती; क्योंकि) **तीर्थंकरोंके आगमोंमें परस्पर विरोध पाया जाता है, जो कि सभीके आप्त होनेपर न होना चाहिए। अतः इस विरोधदोषके कारण सभी तीर्थंकरोंके आप्तता**—निर्दोष-सर्वज्ञता—घटित नहीं होती।

(इसे ठीक मानकर यदि यह पूछा जाय कि क्या उन परस्पर-विरुद्ध आगमके प्ररूपक सभी तीर्थंकरोंमें कोई एक भी आप्त नहीं है और यदि है तो वह कौन है ? इसका उत्तर इतना ही है कि) **उनमें कोई तीर्थंकर आप्त अवश्य हो सकता है और वह वही पुरुष हो सकता है जो चित् ही हो**—चैतन्यके पूर्ण विकासको लिए हुए हो, अर्थात् जिसमें दोषों तथा आवरणोंकी पूर्णतः हानि होकर शुद्ध चैतन्य निखर आया हो।'

दोषों तथा आवरणोंकी पूर्णतः हानि संभव

दोषाऽऽवरणयोर्हानिर्निःशेषाऽस्त्यतिशायनात् ।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥४॥

'(यदि यह कहा जाय कि ऐसा कोई भी पुरुष नहीं है जिसमें अज्ञान-रागादिक दोषों तथा उनके कारणभूत कर्म-आवरणोंकी पूर्णतः हानि सम्भव हो तो यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि) **दोषों तथा दोषोंके कारणोंकी कहीं-कहीं सातिशय हानि देखनेमें आती है**—अनेक पुरुषोंमें अज्ञान तथा राग-द्वेष-काम-क्रोधादिक दोषोंकी

एवं उनके कारणोंकी उत्तरोत्तर बहुत कमी पाई जाती है—**और इसलिए किसी पुरुष-विशेषमें विरोधी कारणोंको पाकर उनका पूर्णतः अभाव होना उसी प्रकार सम्भव है जिस प्रकार कि (सुवर्णादिकमें) मल-विरोधी कारणोंको पाकर बाह्य और अन्तरंग मलका पूर्णतः क्षय हो जाता है**—अर्थात् जिस प्रकार किट्ट-कालिमादि मलसे बद्ध हुआ सुवर्ण अग्निप्रयोगादिरूप योग्य साधनोंको पाकर उस सारे बाहरी तथा भीतरी मलसे विहीन हुआ अपने शुद्ध सुवर्णरूपमें परिणत हो जाता है उसी प्रकार द्रव्य तथा भावरूप कर्ममलसे बद्ध हुआ भव्य जीव सम्यग्दर्शनादि योग्य साधनोंके बलपर उस कर्ममलको पूर्णरूपसे दूर करके अपने शुद्धात्मरूपमें परिणत हो जाता है। अतः किसी पुरुष-विशेषमें दोषों तथा उनके कारणोंकी पूर्णतः हानि होना असम्भव नहीं है। जिस पुरुषमें दोषों तथा आवरणोंकी यह निःशेष हानि होती है वही पुरुष आप्त अथवा निर्दोष सर्वज्ञ एवं लोकगुरु होता है।'

सर्वज्ञ-संस्थिति

सूक्ष्मान्तरित-दूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा ।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञ-संस्थितिः ॥५॥

'(यदि यह कहा जाय कि दोषों तथा आवरणोंकी पूर्णतः हानि होनेपर भी कोई मनुष्य अतीत-अनागतकाल-सम्बन्धी सब पदार्थोंको, अतिदूरवर्ती सारे वर्तमान पदार्थोंको और सम्पूर्ण सूक्ष्म-पदार्थोंको साक्षात् रूपसे नहीं जान सकता है तो वह ठीक नहीं है; क्योंकि,) **सूक्ष्मपदार्थ**—स्वभावविप्रकर्षि परमाणु आदिक—, **अन्तरित पदार्थ**—कालसे अन्तरको लिये हुए कालविप्रकर्षि राम-रावणादिक—, **और दूरवर्ती पदार्थ**—क्षेत्रसे अन्तरको लिये हुए क्षेत्रविप्रकर्षि मेरु–हिमवानादिक—, **अनुमेय** (अनुमानका अथवा

प्रमाणका विषय[1]) **होनेसे किसी-न-किसीके प्रत्यक्ष जरूर हैं; जैसे अग्नि आदिक पदार्थ जो अनुमान या प्रमाणका विषय हैं वे किसीके प्रत्यक्ष जरूर हैं। जिसके सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ प्रत्यक्ष हैं वह सर्वज्ञ हैं। इस प्रकार सर्वज्ञकी सम्यक् स्थिति, व्यवस्था अथवा सिद्धि भले प्रकार सुघटित है।'**

निर्दोष सर्वज्ञ कौन और किस हेतुसे

स त्वमेवाऽसि निर्दोषो युक्ति-शास्त्राऽविरोधिवाक्
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥६॥

'(हे वीर जिन !) **वह निर्दोष**—अज्ञान तथा रागादि-दोषोंसे रहित वीतराग और सर्वज्ञ—**आप ही हैं; क्योंकि आप युक्ति-शास्त्राऽविरोधिवाक् हैं**—आपका वचन (किसी भी तत्त्व-विषयमें) युक्ति और शास्त्रके विरोधको लिये हुए नहीं है। **और यह अविरोध इस तरहसे लक्षित होता है कि आपका जो इष्ट है**—मोक्षादितत्त्वरूप अभिमत–अनेकान्तशासन है—**वह प्रसिद्धसे**—प्रमाणसे अथवा पर-प्रसिद्ध एकान्तसे—**बाधित नहीं है**; जब कि दूसरोंका (कपिल-सुगतादिकका) जो सर्वथा नित्यवाद-अनित्यवादादिरूप एकान्त अभिमत (इष्ट) है वह प्रत्यक्षप्रमाणसे ही नहीं किन्तु पर-प्रसिद्ध अनेकान्तसे भी बाधित है और इसलिए उन सर्वथा एकान्तमतोंके नायकोंमेंसे कोई भी युक्ति-शास्त्रा-विरोधिवाक् न होनेसे निर्दोष एवं सर्वज्ञ नहीं है।'

---

१. प्रमाणका विषय 'प्रमेय' कहलाता है। अनुमेयका अर्थ 'अनुगतं मेयं मानं येषां ते अनुमेयाः प्रमेया इत्यर्थः' इस वसुनंद्याचार्यके वाक्यानुसार 'प्रमेय' भी होता है और इस तरह अनुमेयत्व हेतुमें प्रमेयत्व हेतु भी गर्भित है।

सर्वथैकान्तवादी आप्तोंका स्वेष्ट प्रमाण-बाधित

त्वन्मताऽमृत-बाह्यानां सर्वथैकान्त-वादिनाम् ।
आप्ताऽभिमान-दग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते ॥७॥

'**जो लोग आपके मतरूपी अमृतसे**—अनेकान्तात्मक-वस्तु-तत्त्वके प्रतिपादक आगम (शासन) से, जो कि दु:खनिवृत्ति-लक्षण परमानन्दमय मुक्ति-सुखका निमित्त होनेसे अमृतरूप है—**बाह्य हैं**—उसे न मान कर उससे द्वेष रखते हैं—,**सर्वथा एकान्तवादी हैं**—स्वरूप-पररूप तथा विधि-निषेधरूप सभी प्रकारोंसे एक ही धर्म नित्यत्वादिको मानने एवं प्रतिपादन करनेवाले हैं—**और आप्ताऽभिमानसे दग्ध हैं**—वस्तुत: आप्त-सर्वज्ञ न होते हुए भी 'हम आप्त हैं' इस अहंकारसे भुने हुए अथवा जले हुएके समान हैं—,**उनका जो अपना इष्ट है**—सर्वथा एकान्तात्मक अभिमत है—**वह प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाधित है**—प्रत्यक्षमें कोई भी वस्तु सर्वथा नित्य या अनित्यरूप, सर्वथा एक या अनेकरूप, सर्वथा भाव या अभावरूप इत्यादि नज़र नहीं आती—अथवा यों कहिये कि प्रत्यक्ष-सिद्ध अनेकान्तात्मक वस्तु-तत्त्वके साथ साक्षात् विरोधको लिये हुए होनेके कारण अमान्य है ।'

सर्वथैकान्त-रक्तोंके शुभाऽशुभकर्मादिक नहीं बनते

कुशलाऽकुशलं कर्म परलोकश्च न क्वचित् ।
एकान्त-ग्रह-रक्तेषु नाथ स्व-पर-वैरिषु ॥८॥

'**जो लोग एकान्तके ग्रहण—स्वीकरणमें आसक्त हैं, अथवा एकान्तरूप ग्रहके वशीभूत हुए उसीके रंगमें रंगे हैं**—सर्वथा एकान्त-पक्षके पक्षपाती एवं भक्त बने हुए हैं और अनेकान्तको नहीं मानते, वस्तुमें अनेक गुण-धर्मों (अन्तों) के होते हुए भी उसे एक ही गुण-धर्म (अन्त) रूप अंगीकार करते हैं—(और इसीसे) **जो स्व-परके बैरी हैं**—दूसरोंके सिद्धान्तोंका विरोध कर

उन्हींके शत्रु नहीं, किन्तु अपने एक सिद्धान्तसे अपने दूसरे सिद्धान्तोंका विरोध कर और इस तरह अपने किसी भी सिद्धान्तको प्रतिष्ठित करनेमें समर्थ न होकर अपने भी शत्रु बने हुए हैं—, **उनमेंसे प्रायः किसीके भी यहाँ अथवा किसीके भी मतमें, हे वीर भगवन्! न तो कोई शुभ कर्म बनता है, न अशुभ कर्म, न परलोक** (अन्य जन्म) **बनता है और** (चकारसे) **यह लोक** (जन्म) **भी नहीं बनता, शुभ-अशुभ कर्मोंका फल भी नहीं बनता और न बन्ध तथा मोक्ष ही बनते हैं**—किसी भी तत्त्व अथवा पदार्थकी सम्यक् व्यवस्था नहीं बैठती। और इस तरह उनका मत प्रत्यक्षसे ही बाधित नहीं, बल्कि अपने इष्टसे अपने इष्टका भी बाधक है।'

व्याख्या—वास्तवमें प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक है—उसमें अनेक अन्त-धर्म, गुण-स्वभाव, अंग अथवा अंश हैं। जो मनुष्य किसी भी वस्तुको एक तरफ़से देखता है—उसके एक ही अन्त-धर्म अथवा गुण-स्वभावपर दृष्टि डालता है—वह उसका सम्यग्द्रष्टा (उसे ठीक तौरसे देखने-पहचाननेवाला) नहीं कहला सकता। सम्यग्द्रष्टा होनेके लिये उसे उस वस्तुको सब ओरसे देखना चाहिये और उसके सब अन्तों, अंगों, धर्मों अथवा स्वभावोंपर नजर डालनी चाहिये। सिक्केके एक ही मुखको देखकर सिक्केका निर्णय करनेवाला उस सिक्केको दूसरे मुखसे पड़ा देखकर वह सिक्का नहीं समझता और इसलिये धोखा खाता है। इसीसे अनेकान्तदृष्टिको सम्यग्दृष्टि और एकान्तदृष्टिको मिथ्यादृष्टि कहा है[1]।

---

१. **अनेकान्तात्मदृष्टिस्ते सती शून्यो विपर्ययः।**
ततः सर्वं मृषोक्तं स्यात्तदयुक्तं स्वघाततः॥

—**स्वयम्भूस्तोत्र**

जो मनुष्य किसी वस्तुके एक ही अन्त, अंग, धर्म अथवा गुण-स्वभावको देखकर उसे उस ही स्वरूप मानता है—दूसरे रूप स्वीकार नहीं करता—और इस तरह अपनी एकान्त-धारणा बना लेता है और उसे ही जैसे तैसे पुष्ट किया करता है, उसको 'एकान्त-ग्रहरक्त', एकान्तपक्षपाती अथवा सर्वथा एकान्तवादी कहते हैं। ऐसे मनुष्य हाथीके स्वरूपका विधान करनेवाले जन्मान्ध पुरुषोंकी तरह आपसमें लड़ते-झगड़ते हैं और एक दूसरेसे शत्रुता धारण करके जहाँ परके वैरी बनते हैं वहाँ अपनेको हाथीके विषयमें अज्ञानी रखकर अपना भी अहित साधन करनेवाले तथा कभी भी हाथीसे हाथीका काम लेनेमें समर्थ न हो सकनेवाले उन जन्मान्धोंकी तरह, अपनेको वस्तुस्वरूपसे अनभिज्ञ रखकर अपना भी अहित साधन करते हैं और अपनी मान्यताको छोड़े अथवा उसकी उपेक्षा किये बिना कभी भी उस वस्तुसे उस वस्तु-का ठीक काम लेनेमें समर्थ नहीं हो सकते, और ठीक काम लेनेके लिये मान्यताको छोड़ने अथवा उसकी उपेक्षा करनेपर स्वसिद्धान्त-विरोधी ठहरते हैं; इस तरह दोनों ही प्रकारसे वे अपने भी वैरी होते हैं। नीचे एक उदाहरण-द्वारा इस बातको और भी स्पष्ट करके बतलाया जाता है—

एक मनुष्य किसी वैद्यको एक रोगीपर कुचलेका प्रयोग करता हुआ देखता है और यह कहते हुए भी सुनता है कि 'कुचला जीवनदाता है, रोगको नशाता है और जीवनी शक्तिको बढ़ाता है।' साथ ही, वह यह भी अनुभव करता है कि वह रोगी कुचले-के खानेसे अच्छा तन्दुरुस्त तथा हृष्ट-पुष्ट हो गया। इसपरसे वह अपनी यह एकान्त धारणा बना लेता है कि 'कुचला जीवनदाता है, रोग नशाता है और जीवनी शक्तिको बढ़ाकर मनुष्यको हृष्ट-

पुष्ट बनाता है' । उसे मालूम नहीं कि कुचलेमें मारनेका—जीवन-को नष्ट कर देनेका—भी गुण है, और उसका प्रयोग सब रोगों तथा सब अवस्थाओंमें समानरूपसे नहीं किया जा सकता; न उसे मात्राकी ठीक खबर है, और न यही पता है कि वह वैद्य भी कुचलेके दूसरे मारकगुणसे परिचित था, और इसलिये जब वह उसे जीवनी शक्तिको बढ़ानेके काममें लाता था तब वह दूसरी दवाइयोंके साथमें उसका प्रयोग करके उसकी मारक शक्तिको दबा देता था अथवा उसे उन जीव-जन्तुओंके घातके काममें लेता था जो रोगीके शरीरमें जीवनी शक्तिको नष्ट कर रहे हों । और इसलिये वह मनुष्य अपनी उस एकान्त-धारणाके अनुसार अनेक रोगियोंको कुचला देता है तथा जल्दी अच्छा करनेकी धुनमें अधिक मात्रामें भी दे देता है । नतीजा यह होता है कि वे रोगी मर जाते हैं या अधिक कष्ट तथा वेदना उठाते हैं और वह मनुष्य कुचलेका ठीक प्रयोग न जानकर उसका मिथ्या प्रयोग करनेके कारण दण्ड पाता है, तथा कभी स्वयं कुचला खाकर अपनी प्राणहानि भी कर डालता है । इस तरह कुचलेके विषयमें एकान्त आग्रह रखनेवाला जिस प्रकार स्व-पर-वैरी होता है उसी प्रकार दूसरी वस्तुओंके विषयमें भी एकान्त हठ पकड़नेवालोंको स्व-पर-वैरी समझना चाहिये ।

सच पूछिये तो जो अनेकान्तके द्वेषी हैं वे अपने एकान्तके भी द्वेषी हैं; क्योंकि अनेकान्तके बिना वे एकान्तको प्रतिष्ठित नहीं कर सकते—अनेकान्तके बिना एकान्तका अस्तित्व उसी तरह नहीं बन सकता जिस तरह कि सामान्यके बिना विशेषका या द्रव्यके बिना पर्यायका अस्तित्व नहीं बनता । सामान्य और विशेष, अस्तित्व और नास्तित्व तथा नित्यत्व और अनित्यत्व

धर्म जिस प्रकार परस्परमें अविनाभाव-सम्बन्धको लिये हुए हैं—एकके बिना दूसरेका सद्भाव नहीं बनता—उसी प्रकार एकान्त और अनेकान्तमें भी परस्पर अविनाभाव-सम्बन्ध है। ये सब सप्रतिपक्षधर्म एक ही वस्तुमें परस्पर अपेक्षाको लिए हुए होते हैं। उदाहरणके तौरपर अनामिका अंगुली छोटी भी है और बड़ी भी—कनिष्ठासे वह बड़ी है और मध्यमासे छोटी है। इस तरह अनामिकामें छोटापन और बड़ापन दोनों धर्म सापेक्ष हैं, अथवा छोटी है और छोटी नहीं है ऐसे छोटेपनके अस्तित्व और नास्तित्वरूप दो अविनाभावी धर्म भी उसमें सापेक्षरूपसे पाये जाते हैं—अपेक्षाको छोड़ देनेपर दोनोंमेंसे कोई भी धर्म नहीं बनता। इसी प्रकार नदीके प्रत्येक तटमें इस पारपन और उस पारपनके दोनों धर्म होते हैं और वे सापेक्ष होनेसे ही अविरोधरूप रहते हैं।

जो धर्म एक ही वस्तुमें परस्पर अपेक्षाको लिये हुए होते हैं वे अपने और दूसरेके उपकारी (मित्र) होते हैं और अपनी तथा दूसरेकी सत्ताको बनाये रखते हैं। और जो धर्म परस्पर अपेक्षाको लिये हुए नहीं होते वे अपने और दूसरेके अपकारी (शत्रु) होते हैं—स्व-पर-प्रणाशक होते हैं, और इसलिये न अपनी सत्ताको कायम रख सकते हैं और न दूसरेकी। इसीसे स्वामी समन्तभद्रने अपने स्वयंभूस्तोत्रमें भी—

"मिथोऽनपेक्षाः स्व-पर-प्रणाशिनः"

"परस्परेक्षा स्व-परोपकारिणः"

इन वाक्योंके द्वारा इसी सिद्धान्तकी स्पष्ट घोषणा की है। आप निरपेक्ष नयोंको मिथ्या और सापेक्ष नयोंको सम्यक् बतलाते हैं। आपके विचारसे निरपेक्ष नयोंका विषय अर्थक्रियाकारी न होनेसे अवस्तु है और सापेक्ष नयोंका विषय अर्थकृत् (प्रयोजनसाधक)

होनेसे वस्तुतत्त्व है[1], निरपेक्ष नयोंका विषय 'मिथ्या एकान्त' और सापेक्ष नयोंका विषय 'सम्यक् एकान्त' है। और यह सम्यक् एकान्त ही प्रस्तुत अनेकान्तके साथ अविनाभावसम्बन्धको लिये हुए है। जो मिथ्या एकान्तके उपासक होते हैं उन्हें ही 'एकान्त-ग्रहरक्त' कहा गया है, वे ही 'सर्वथा एकान्तवादी' कहलाते हैं और उन्हें ही यहाँ 'स्वपरवैरी' समझना चाहिये। जो सम्यक् एकान्तके उपासक होते हैं उन्हें 'एकान्तग्रहरक्त' नहीं कहते, उनका नेता 'स्यात्' पद होता है, वे उस एकान्तको कथंचित् रूपसे स्वीकार करते हैं, इसलिये उसमें सर्वथा आसक्त नहीं होते और न प्रतिपक्ष-धर्मका विरोध अथवा निराकरण ही करते हैं—सापेक्षावस्थामें विचारके समय प्रतिपक्ष-धर्मकी अपेक्षा न होनेसे उसके प्रति एक प्रकारकी उपेक्षा तो होती है किन्तु उसका विरोध अथवा निराकरण नहीं होता। और इसीसे वे 'स्व-पर-वैरी' नहीं कहे जा सकते। अतः स्वामी समन्तभद्रका यह कहना बिल्कुल ठीक है कि 'जो एकान्तग्रहरक्त होते हैं वे स्वपरवैरी होते हैं।'

अब देखना यह है कि ऐसे स्व-पर-वैरी एकान्तवादियोंके मतमें शुभ-अशुभ-कर्म, कर्मफल,—सुख-दुःख, जन्म-जन्मान्तर (लोक-परलोक) और बन्ध-मोक्षादिकी व्यवस्था कैसे नहीं बन सकती। बात बिल्कुल स्पष्ट है, ये सब व्यवस्थाएँ चूँकि अनेकान्ताश्रित हैं—अनेकान्तके आश्रय बिना इन परस्पर विरुद्ध मालूम पड़ने-वाली सापेक्ष अवस्थाओंकी कोई स्वतन्त्र सत्ता अथवा व्यवस्था नहीं बन सकती—, इसलिये जो अनेकान्तके वैरी हैं—अनेकान्त-सिद्धान्तसे द्वेष रखते हैं—उनके यहाँ ये सब व्यवस्थाएँ सुघटित

१. निरपेक्षा नया मिथ्याः सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् ॥ —देवागम १०८

नहीं हो सकतीं। अनेकान्तके प्रतिषेधसे क्रम-अक्रमका प्रतिषेध हो जाता है; क्योंकि क्रम-अक्रमकी अनेकान्तके साथ व्याप्ति है। जब अनेकान्त ही नहीं तब क्रम-अक्रमकी व्यवस्था कैसे बन सकती है? अर्थात् द्रव्यके अभावमें जिस प्रकार गुण-पर्यायकी और वृक्षके अभावमें शीशम, जामन, नीम, आम्रादिकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती उसी प्रकार अनेकान्तके अभावमें क्रम-अक्रमकी भी व्यवस्था नहीं बन सकती। क्रम-अक्रमकी व्यवस्था न बननेसे अर्थक्रियाका निषेध हो जाता है; क्योंकि अर्थक्रियाकी क्रम-अक्रमके साथ व्याप्ति है। और अर्थक्रियाके अभावमें कर्मादिक नहीं बन सकते—कर्मादिककी अर्थक्रियाके साथ व्याप्ति है। जब शुभ-अशुभ-कर्म ही नहीं बन सकते तब उनका फल सुख-दुःख, फल-भोगका क्षेत्र जन्म-जन्मान्तर (लोक-परलोक) और कर्मोंसे बँधने तथा छूटनेकी वात तो कैसे बन सकती है? सारांश यह कि अनेकान्तके आश्रय बिना ये सब शुभाऽशुभ-कर्मादिक निराश्रित हो जाते हैं, और इसलिए सर्वथा नित्यादि एकान्तवादियोंके मतमें इनकी कोई ठीक व्यवस्था नहीं बन सकती। वे यदि इन्हें मानते हैं और तपश्चरणादिके अनुष्ठान-द्वारा सत्कर्मोंका अर्जन करके उनका सत्फल लेना चाहते हैं अथवा कर्मोंसे मुक्त होना चाहते हैं तो वे अपने इस इष्टको अनेकान्तका विरोध करके बाधा पहुँचाते हैं, और इस तरह भी अपनेको स्व-पर-वैरी सिद्ध करते हैं।

वस्तुतः अनेकान्त, भाव-अभाव, नित्य-अनित्य, भेद-अभेद आदि एकान्तनयोंके विरोधको मिटाकर, वस्तुतत्त्वकी सम्यक्-व्यवस्था करनेवाला है; इसीसे लोक-व्यवहारका सम्यक् प्रवर्तक है—बिना अनेकान्तका आश्रय लिये लोकका व्यवहार ठीक बनता ही नहीं, और न परस्परका वैर-विरोध ही मिट सकता है। इसीलिये

अनेकान्तको परमागमका बीज और लोकका अद्वितीय गुरु कहा गया है—वह सबोंके लिये सन्मार्ग-प्रदर्शक है[1]। जैनी नीतिका भी वही मूलाधार है। जो लोग अनेकान्तका सचमुच आश्रय लेते हैं वे कभी स्व-पर-वैरी नहीं होते, उनसे पाप नहीं बनते, उन्हें आपदाएँ नहीं सतातीं, और वे लोकमें सदा ही उन्नत उदार तथा जयशील बने रहते हैं।

भावैकान्तकी सदोषता

भावैकान्ते पदार्थानामभावानामपह्नवात् ।
सर्वात्कमनाद्यन्तमस्वरूपमतावकम् ॥९॥

'(हे वीर भगवन् !) **यदि पदार्थोंके भाव** (अस्तित्त्व) **का एकान्त माना जाय**—यह कहा जाय कि सब पदार्थ सर्वथा सत् रूप ही हैं, असत् (नास्तित्व) रूप कभी कोई पदार्थ नहीं है—**तो इससे अभाव पदार्थोंका**—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभावरूप वस्तु-धर्मोंका—**लोप ठहरता है, और इन वस्तु-धर्मोंका लोप करनेसे वस्तुतत्त्व** (सर्वथा) **अनादि, अनन्त, सर्वात्मक और अस्वरूप हो जाता है, जो कि आपका इष्ट नहीं है**—प्रत्यक्षादिके विरुद्ध होनेसे आपका मत नहीं है।'

(किस अभावका लोप करनेसे क्या हो जाता अथवा क्या दोष आता है, उसका स्पष्टीकरण आगे किया गया है)

प्रागभाव-प्रध्वंसाभावके विलोपमें दोष

कार्य-द्रव्यमनादि स्यात्प्रागभावस्य निह्नवे ।
प्रध्वंसस्य च धर्मस्य प्रच्यवेऽनन्ततां व्रजेत् ॥१०॥

---

१. नीति-विरोध-ध्वंसी लोकव्यवहारवर्तकः सम्यक् ।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

'**प्रागभावका यदि लोप किया जाय**—कार्यरूप द्रव्यका अपने उत्पादसे पहले उस कार्यरूपमें अभाव था, इस बातको न माना जाय—**तो वह कार्यरूप द्रव्य**—घटादिक अथवा शब्दादिक—**अनादि ठहरता है**—और अनादि वह है नहीं, एक समय उत्पन्न हुआ, यह बात प्रत्यक्ष है। **यदि प्रध्वंस धर्मका लोप किया जाय**—कार्यद्रव्यमें अपने उस कार्यरूपसे विनाशकी शक्ति है और इसलिए वह बादको किसी समय प्रध्वंसाभावरूप भी होता है, इस बातको यदि न माना जाय—**तो वह कार्यरूप द्रव्य**—घटादिक अथवा शब्दादिक—**अनन्तता–अविनाशिताको प्राप्त होता है**—और अविनाशी वह है नहीं, यह प्रत्यक्ष सिद्ध होता है, प्रत्यक्षमें घटादिक तथा शब्दादिक कार्योंका विनाश होते देखा जाता है। अतः प्रागभाव और प्रध्वंसाभावका लोप करके कार्यद्रव्यको उत्पत्ति और विनाश-विहीन सदासे एक ही रूपमें स्थिर (सर्वथा नित्य) मानना प्रत्यक्ष-विरोधके दोषसे दूषित है और इसलिए प्रागभाव तथा प्रध्वंसाभावका लोप किसी तरह भी समुचित नहीं कहा जा सकता। इन अभावोंको मानना ही होगा।'

अन्योऽन्याभाव-अत्यन्ताभावके विलोपमें दोष

सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्याऽपोह-व्यतिक्रमे।
अन्यत्र समवाये न व्यपदिश्येत सर्वथा ॥११॥

'**यदि अन्याऽपोहका**—अन्योन्याभावरूप पदार्थका—**व्यतिक्रम किया जाय**—वस्तुके एक रूपका दूसरे रूपमें अथवा एक वस्तुका दूसरी वस्तुमें अभाव है, इस बातको न माना जाय—**तो वह प्रवादियोंका विवक्षित अपना-अपना इष्ट एक तत्त्व** (अनिष्टतत्त्वोंका भी उसमें सद्भाव होनेसे) **अभेदरूप सर्वात्मक ठहरता है**—**और इसलिए उसकी अलगसे कोई व्यवस्था नहीं बन सकती।**

यदि अत्यन्ताभावका लोप किया जाय—एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें सर्वथा अभाव है, इसको न माना जाय—**तो एक द्रव्यका दूसरेमें समवाय-सम्बन्ध (तादात्म्य) स्वीकृत होता है और ऐसा होनेपर यह चेतन है, यह अचेतन है इत्यादि रूपसे उस एक तत्त्वका सर्वथा भेदरूपसे कोई व्यपदेश** (कथन) **नहीं बन सकता** ।'

अभावैकान्तकी सदोषता

अभावैकान्त-पक्षेऽपि भावाऽपह्नव-वादिनाम् ।
बोध-वाक्यं प्रमाणं न केन साधन-दूषणम् ॥१२॥

'**यदि अभावैकान्तपक्षको स्वीकार किया जाय**—यह माना जाय कि सभी पदार्थ सर्वथा असत्-रूप हैं—**तो इस प्रकार भावोंका सर्वथा अभाव कहनेवालोंके यहाँ** (मतमें) **बोध** (ज्ञान) **और वाक्य** (आगम) **दोनोंका ही अस्तित्व नहीं बनता और दोनोंका अस्तित्व न बननेसे** (स्वार्थानुमान, परार्थानुमान आदिके रूपमें) **कोई प्रमाण भी नहीं बनता; तब किसके द्वारा अपने अभावैकान्त पक्षका साधन किया जा सकता और दूसरे भाव-वादियोंके पक्षमें दूषण दिया जा सकता है** ?—स्वपक्ष-साधन और परपक्ष-दूषण दोनों ही घटित न होनेसे अभावैकान्तपक्ष-वादियोंके पक्षकी कोई सिद्धि अथवा प्रतिष्ठा नहीं बनती और वह सदोष ठहरता है; फलतः अभावैकान्तपक्षके प्रतिपादक सर्वज्ञ एवं महान् नहीं हो सकते ।'

उभय और अवक्तव्य एकान्तोंकी सदोषता

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वाद-न्याय-विद्विषाम् ।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नाऽवाच्यमिति युज्यते ॥१३॥

'(**भावैकान्त और अभावैकान्त दोनोंकी अलग-अलग**

मान्यतामें दोष देखकर) **यदि भाव और अभाव दोनोंका एकात्म्य** (उभयैकान्त) **माना जाय, तो स्याद्वाद-न्यायके विद्वेषियोंके यहाँ**—उन लोगोंके मतमें जो अस्तित्व-नास्तित्वादि सप्रतिपक्ष धर्मोंमें पारस्परिक अपेक्षाको न मानकर उन्हें स्वतन्त्र धर्मोंके रूपमें स्वीकार करते हैं और इस तरह स्याद्वाद-नीतिके शत्रु बने हुए हैं—**वह एकात्म्य नहीं बनता; क्योंकि उससे विरोध दोष आता है**—भावैकान्त अभावैकान्तका और अभावैकान्त भावैकान्तका सर्वथा विरोधी होनेसे दोनोंमें एकातमता घटित नहीं हो सकती ।'

'(भाव, अभाव और उभय तीनों एकान्तोंकी मान्यतामें दोष देखकर) **यदि अवाच्यता** (अवक्तव्य) **एकान्तको माना जाय**—यह कहा जाय कि वस्तुतत्त्व सर्वथा अवाच्य (अनिर्वचनीय या अवक्तव्य) है—**तो वस्तुतत्त्व 'अवाच्य' है ऐसा कहना भी नहीं बनता**—इस कहनेसे ही वह 'वाच्य' हो जाता है, 'अवाच्य' नहीं रहता; क्योंकि सर्वथा अवाच्यकी मान्यतामें कोई वचन-व्यवहार घटित ही नहीं हो सकता ।'

उक्त एकान्तोंकी निर्दोष विधि-व्यवस्था

कथञ्चित्ते सदेवेष्टं कथञ्चिदसदेव तत् ।
तथोभयमवाच्यं च नय-योगान्न सर्वथा ॥१४॥

'(स्याद्वाद-न्यायके नायक हे वीर भगवन् !) **आपके शासनमें वह वस्तुतत्त्व कथञ्चित्** (किसी प्रकारसे) **सत्-रूप ही है, कथञ्चित् असत्-रूप ही है, कथञ्चित् उभयरूप ही है, कथञ्चित् अवक्तव्यरूप ही है** (चकारसे) **कथञ्चित् सत् और अवक्तव्य-रूप ही है; कथञ्चित् असत् और अवक्तव्यरूप ही है, कथञ्चित् सदसत् और अवक्तव्यरूप ही है; और यह सब नयोंके योगसे है**—वक्ताके अभिप्राय-विशेषको लिए हुए जो सप्तभंगात्मक नय-

विकल्प हैं उनकी विवक्षासे अथवा दृष्टिसे है—**सर्वथारूपसे नहीं**—नयदृष्टिको छोड़कर सर्वथारूपमें अथवा सर्वप्रकारसे एकरूपमें कोई भी वस्तुतत्त्व व्यवस्थित नहीं होता।'

सत्-असत्-मान्यताकी निर्दोष विधि

सदेव सर्वं को नेच्छेत्स्वरूपादि-चतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥१५॥

'(हे वीर जिन !) **ऐसा कौन है जो सबको**—चेतन-अचेतनको, द्रव्य-पर्यायादिको, भ्रान्त-अभ्रान्तको अथवा स्वयंके लिए इष्ट अनिष्टको—**स्वरूपादिचतुष्टयकी दृष्टिसे**—स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावकी अपेक्षासे—**सत् रूप ही, और पररूपादिचतुष्टयकी दृष्टिसे**—परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावकी अपेक्षासे—**असत् रूप ही अंगीकार न करे ?**—कोई भी लौकिकजन, परीक्षक, स्याद्वादी, सर्वथा एकान्तवादी अथवा सचेतन प्राणी ऐसा नहीं है, जो प्रतीतिका लोप करनेमें समर्थ न होनेके कारण इस बातको न मानता हो। **यदि** (स्वयं प्रतीत करता हुआ भी कुनयके वश विपरीतबुद्धि अथवा दुराग्रहको प्राप्त हुआ) **कोई ऐसा नहीं मानता है तो वह** (अपने किसी भी इष्ट-तत्त्वमें) **अवस्थित अथवा व्यवस्थित नहीं होता है**—उसकी कोई भी तत्त्वव्यवस्था नहीं बनती। क्योंकि स्वरूपके ग्रहण और पररूपके त्यागकी व्यवस्थासे ही वस्तुमें वस्तुत्वकी व्यवस्था सुघटित होती है, अन्यथा नहीं। स्वरूपकी तरह यदि पररूपसे भी किसीको सत् माना जाय तो चेतनादिके अचेतनत्वादिका प्रसंग आता है। और पररूपकी तरह यदि स्वरूपसे भी असत् माना जाय, तो सर्वथा शून्यताकी आपत्ति खड़ी होती है। अथवा जिस रूपसे सत्त्व है उसी रूपसे असत्त्वको और जिस

रूपसे असत्त्व है उसी रूपसे सत्त्वको माना जाय, तो कुछ भी घटित नहीं होता। अतः अन्यथा माननेमें तत्त्व या वस्तुकी कोई व्यवस्था बनती ही नहीं, यह भारी दोष उपस्थित होता है।'

उभय तथा अवक्तव्यकी निर्दोष मान्यतामें हेतु

क्रमार्पित-द्वयाद् द्वैतं सहाऽवाच्यमशक्तितः।
अवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयो भङ्गाः स्वहेतुतः ॥१६॥

'**वस्तुतत्त्व कथञ्चित् क्रम-विवक्षित स्व-पर-चतुष्टयकी अपेक्षा द्वैत**—(उभय) **रूप**—सदसद्रूप अथवा अस्तित्व-नास्तित्वरूप—**है और कथञ्चित् युगपत् विवक्षित स्व-पर-चतुष्टयकी अपेक्षा कथनमें वचनकी अशक्ति**—**असमर्थताके कारण अवक्तव्यरूप है।** (इन चारोंके अतिरिक्त) **सत्, असत् और उभयके उत्तरमें अवक्तव्यको लिए हुए जो शेष तीन भंग**—सदवक्तव्य, असदवक्तव्य और उभयावक्तव्य—**हैं वे** (भी) **अपने-अपने हेतुसे कथञ्चित् रूपमें सुघटित हैं**—अर्थात् वस्तुतत्त्व यद्यपि स्वरूपादि-चतुष्टयकी अपेक्षा कथञ्चित् अस्तिरूप है तथापि युगपत् स्व-पर-चतुष्टयकी अपेक्षा कहा न जा सकनेके कारण अवक्तव्यरूप भी है और इसलिए स्यादस्त्यवक्तव्यरूप है; इसी तरह स्यान्नास्त्यवक्तव्य और स्यादस्ति-नास्ति-अवक्तव्य इन दो भंगोंको भी जानना चाहिए।'

अस्तित्वधर्म नास्तित्वके साथ अविनाभावी

अस्तित्वं प्रतिषेध्येनाऽविनाभाव्येक-धर्मिणि।
विशेषणत्वात्साधर्म्यं यथा भेद-विवक्षया ॥१७॥

एक धर्मीमें अस्तित्वधर्म नास्तित्वधर्मके साथ अविनाभावी है—नास्तित्वधर्मके बिना अस्तित्वधर्म नहीं बनता—**क्योंकि वह**

विशेषण है—जो विशेषण होता है वह अपने प्रतिषेध्यके (प्रतिपक्ष-धर्मके) साथ अविनाभावी होता है—**जैसे कि** (हेतु-प्रयोगमें) साधर्म्य (अन्वय-हेतु) **भेद-विवक्षा** (वैधर्म्य अथवा व्यतिरेक-हेतु)-**के साथ अविनाभाव-सम्बन्धको लिए रहता है**—व्यतिरेक (वैधर्म्य) के बिना अन्वय (साधर्म्य) और अन्वयके बिना व्यतिरेक घटित नहीं होता ।'

नास्तित्वधर्म अस्तित्वके साथ अविनाभावी

नास्तित्वं प्रतिषेध्येनाऽविनाभाव्येकधर्मिणि ।
विशेषणत्वाद्वैधर्म्यं यथाऽभेद-विवक्षया ॥१८॥

(इसी तरह) **एक धर्मीमें नास्तित्वधर्म अपने प्रतिषेध्य-** (अस्तित्व) **धर्मके साथ अविनाभावी है**—अस्तित्वधर्मके बिना वह नहीं बनता—**क्योंकि वह विशेषण है**—जो विशेषण होता है वह अपने प्रतिषेध्य (प्रतिपक्ष) धर्मके साथ अविनाभावी होता है—**जैसे कि** (हेतु-प्रयोगमें) **वैधर्म्य** (व्यतिरेक-हेतु) **अभेद-विवक्षा** (साधर्म्य या अन्वय-हेतु) **के साथ अविनाभाव सम्बन्धको लिए रहता है**—अन्वय (साधर्म्य) के बिना व्यतिरेक (वैधर्म्य) और व्यतिरेकके बिना अन्वय घटित ही नहीं होता ।'

शब्दगोचर-विशेष्य विधि-निषेधात्मक

विधेयप्रतिषेध्यात्मा विशेष्यः शब्दगोचरः ।
साध्यधर्मो यथा हेतुरहेतुश्चाप्यपेक्षया ॥१९॥

'**जो विशेष्य** (धर्मी या पक्ष) **होता है वह विधेय तथा प्रतिषेध्य-स्वरूप होता है**—विधिरूप अस्तित्वधर्म और निषेधरूप नास्तित्वधर्म दोनोंको अपना विषय किये रहता है; **क्योंकि वह शब्द-का विषय होता है**—जो जो शब्दका विषय होता है वह सब विशेष्य

विधेय-प्रतिषेध्यात्मक हुआ करता है। **जैसे कि साध्यका जो धर्म एक विवक्षासे हेतु** (साधन) **रूप होता है वह दूसरी विवक्षासे अहेतु** (असाधन) **रूप भी होता है।** उदाहरणके लिए साध्य जब अग्निमान् है तो धूम उसका साधन—अनुमान-द्वारा उसे सिद्ध करनेमें समर्थ—होता है और साध्य जब जलवान् है तो धूम उसका असाधन—अनुमान-द्वारा उसे सिद्ध करनेमें असमर्थ—**होता है।** इस तरह धूममें जिस प्रकार हेतुत्व और अहेतुत्व दोनों धर्म हैं उसी प्रकार जो कोई भी शब्दगोचर विशेष्य है वह सब अस्तित्व और नास्तित्व दोनों धर्मोंको साथमें लिए हुए होता है।'

शेष भंग भी नय-योगसे अविरोधरूप

शेषभंगाश्च नेतव्या यथोक्त-नय-योगतः।
न च कश्चिद्विरोधोऽस्ति मुनीन्द्र! तव शासने ॥२०॥

'**शेष भंग जो अवक्तव्य, अस्त्यवक्तव्य, नास्त्यवक्तव्य और अस्ति-नास्त्यवक्तव्य हैं वे भी यथोक्त नयके योगसे नेतव्य हैं**—पहले तीन भंगोंको जिस प्रकार 'विशेषणत्वात्' हेतुसे अपने प्रति-पक्षीके साथ अविनाभावसम्बन्धको लिए हुए उदाहरण-सहित बतलाया गया है उसी प्रकार ये शेष भंग भी जानने अथवा योजना किये जानेके योग्य हैं। (इन भंगोंकी व्यवस्था) **हे मुनीन्द्र**—जीवादि तत्त्वोंके याथात्म्यका मनन करनेवाले मुनियोंके स्वामी वीरजिनेन्द्र!—**आपके शासन** (मत) **में कोई भी विरोध घटित नहीं होता है**—क्योंकि वस्तु अनेकान्तात्मक है।'

वस्तुका अर्थक्रियाकारित्व कब बनता है—

एवं विधि-निषेधाभ्यामनवस्थितमर्थकृत्।
नेति चेन्न यथा कार्यं बहिरन्तरुपाधिभिः ॥२१॥

'**इस प्रकार विधि-निषेध-द्वारा जो वस्तु अवस्थित** (अवधारित) **नहीं है**—सर्वथा आस्तित्वरूप या सर्वथा नास्तित्वरूपसे निर्धारित एवं परिगृहीत नहीं है—**वह अर्थ-क्रियाको करनेवाली होती है। यदि ऐसा नहीं माना जाय तो बाह्य और अन्तरंग कारणोंसे कार्यका निष्पन्न होना जो माना गया है वह नहीं बनता**—सर्वथा सत्-रूप या सर्वथा असत्-रूप वस्तु अर्थ-क्रिया करनेमें असमर्थ है, चाहे कितने भी कारण क्यों न मिलें, और अर्थ-क्रियाके अभावमें वस्तुतः वस्तुत्व बनता ही नहीं।'

धर्म-धर्ममें अर्थभिन्नता और धर्मोंकी मुख्य-गौणता

धर्मे धर्मेऽन्य एवार्थो धर्मिणोऽनन्त-धर्मिणः।
अङ्गित्वेऽन्यतमान्तस्य शेषान्तानां तद(दा)ङ्गता ॥२२॥

'**अनन्तधर्मा धर्मीके धर्म-धर्ममें अन्य ही अर्थ संनिहित है**—धर्मीका प्रत्येक धर्म एक जुदे ही प्रयोजनको लिए हुए है। **उन धर्मोंमेंसे किसी एक धर्मके अङ्गी** (प्रधान) **होनेपर शेष धर्मोंको उसके अथवा उस समय अंगता** (अप्रधानता) **हो जाती है**—परिशेष सब धर्म उसके अङ्ग अथवा उस समय अप्रधान रूपसे विवक्षित होते हैं।

उक्त भंगवती प्रक्रियाकी एकाऽनेकादिविकल्पोंमें भी योजना

एकाऽनेक-विकल्पादावुत्तरत्राऽपि योजयेत्।
प्रक्रियां भङ्गिनीमेनां नयैर्नय-विशारदः ॥२३॥

'**जो नय-निपुण है वह** (विधि-निषेधमें प्रयुक्त) **इस भंगवती** (सप्तभङ्गवती) **प्रक्रियाको आगे भी एक-अनेक जैसे विकल्पादिकमें नयोंके साथ योजित करे**—जैसे सम्पूर्ण वस्तुतत्त्व कथंचित् एकरूप है, कथंचित् अनेकरूप है, कथंचित् एकाऽनेकरूप है, कथंचित्

अवक्तव्यरूप है, कथंचित् एकावक्तव्यरूप है, कथंचिदनेकावक्तव्य-रूप है और कथंचिदेकाऽनेकाऽवक्तव्यरूप है। एकत्वका अनेकत्वके साथ और अनेकत्वका एकत्वके साथ अविनाभावसम्बन्ध है, और इसलिये एकत्वके बिना अनेकत्व और अनेकत्वके बिना एकत्व नहीं बनता; न वस्तुतत्त्व सर्वथा एकरूपमें या सर्वथा अनेकरूपमें व्यवस्थित ही होता है, दोनोंमें वह अनवस्थित है और तब ही अर्थ-क्रियाका कर्ता है; एकत्वादि किसी एकधर्मके प्रधान होनेपर दूसरा धर्म अप्रधान हो जाता है।'

[इसके आगे अद्वैतादि एकान्तपक्षोंको लेकर, उनमें दोष दिखलाते हुए, वस्तु-व्यवस्थाके अनुकूल विषयका स्पष्टीकरण किया जायगा।]

इति देवागमाप्तमीमांसायां प्रथमः परिच्छेदः।

द्वितीय परिच्छेद

अद्वैत-एकान्तकी सदोषता

अद्वैतैकान्त-पक्षेऽपि दृष्टो भेदो विरुध्यते।
कारकाणां क्रियायाश्च नैकं स्वस्मात्प्रजायते ॥ २४ ॥

'**यदि अद्वैत एकान्तका पक्ष लिया जाय**—यह माना जाय कि वस्तुतत्त्व सर्वथा दुई (द्वितीयता) से रहित एक ही रूप है—**तो कारकों और क्रियाओंका जो भेद** (नानापन) **प्रत्यक्ष-प्रमाणसे जाना जाता अथवा स्पष्ट दिखाई देनेवाला लोकप्रसिद्ध** (सत्य) **है वह विरोधको प्राप्त होता** (मिथ्या ठहरता) **है**—**कर्ता, कर्म, करणादि–रूपसे जो सात कारक अपने असंख्य तथा**

अनन्त भेदोंको लिये हुए हैं उनका वह भेद-प्रभेद नहीं बनता और न क्रियाओंका चलना-ठहरना, उपजना-विनशना, पचाना-जलाना, सकोडना-पसारना, खाना-पीना और देखना-जानना आदि रूप कोई विकल्प ही बनता है; फलतः सारा लोक-व्यवहार बिगड़ जाता है। (यदि यह कहा जाय कि जो एक है वही विभिन्न कारकों तथा क्रियाओंके रूपमें परिणत होता है तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि) **जो कोई एक है**—सर्वथा अकेला एवं असहाय है—**वह अपनेसे ही उत्पन्न नहीं होता**।—उसका उस रूपमें जनक और जन्मका कारणादिक दूसरा ही होता है, दूसरेके अस्तित्व एवं निमित्तके बिना वह स्वयं विभिन्न कारकों तथा क्रियाओंके रूपमें परिणत नहीं हो सकता।

कर्म-फलादिका कोई भी द्वैत नहीं बनता

कर्म-द्वैतं फल-द्वैतं लोक-द्वैतं च नो भवेत्।
विद्याऽविद्या-द्वयं न स्याद्बन्ध-मोक्ष-द्वयं तथा ॥२५॥

'(सर्वथा अद्वैत सिद्धान्तके माननेपर) **कर्म-द्वैत**—शुभ-अशुभ कर्मका जोड़ा, **फल-द्वैत**—पुण्य-पापरूप अच्छे-बुरे फलका जोड़ा **और लोक-द्वैत**—फल भोगनेके स्थानरूप इहलोक-परलोकका जोड़ा—**नहीं बनता**। (इसी तरह) **विद्या-अविद्याका द्वैत** (जोड़ा) **तथा बन्ध-मोक्षका द्वैत** (जोड़ा) **भी नहीं बनता**। इन द्वैतों(जोड़ों)मेंसे किसी भी द्वैतके माननेपर सर्वथा अद्वैतका एकान्त बाधित होता है। और यदि प्रत्येक जोड़ेकी किसी एक वस्तुका लोपकर दूसरी वस्तुका ही ग्रहण किया जाय तो उस दूसरी वस्तुके भी लोपका प्रसंग आता है; क्योंकि एकके बिना दूसरीका अस्तित्व नहीं बनता, और इस तरह भी सारे व्यवहारका लोप ठहरता है।'

हेतु आदिसे अद्वैत-सिद्धिमें द्वैतापत्ति

हेतोरद्वैत-सिद्धिश्चेद्द्वैतं स्याद्धेतु-साध्ययोः ।
हेतुना चेद्विना सिद्धिर्द्वैतं वाङ्मात्रतो न किम् ॥२६॥

'(इसके सिवाय यह प्रश्न पैदा होता है कि अद्वैतकी सिद्धि किसी हेतुसे की जाती है या बिना किसी हेतुके वचनमात्रसे ही ?— उत्तरमें) **यदि यह कहा जाय कि अद्वैतकी सिद्धि हेतुसे की जाती है तो हेतु** (साधन) **और साध्य दोकी मान्यता होनेसे द्वैतापत्ति खड़ी होती है**—सर्वथा अद्वैतका एकान्त नहीं रहता—**और यदि बिना किसी हेतुके ही सिद्धि कही जाती है तो क्या वचनमात्रसे द्वैतापत्ति नहीं होती** ?—साध्य अद्वैत और वचन, जिसके द्वारा साध्यकी सिद्धिको घोषित किया जाता है, दोनोंके अस्तित्वसे अद्वैतता नहीं रहती। और यह बात तो बनती ही नहीं कि जिसका स्वयं अस्तित्व न हो उसके द्वारा किसी दूसरेके अस्तित्वको सिद्ध किया जाय अथवा उसकी सिद्धिकी घोषणा की जाय। अतः अद्वैत एकान्तकी किसी तरह भी सिद्धि नहीं बनती, वह कल्पना-मात्र ही रह जाता है।'

द्वैतके बिना अद्वैत नहीं होता

अद्वैतं न विना द्वैतादहेतुरिव हेतुना ।
संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादृते क्वचित् ॥२७॥

'(एक बात और भी बतला देनेकी है और वह यह कि) **द्वैतके बिना अद्वैत उसी प्रकार नहीं होता जिस प्रकार कि हेतुके बिना अहेतु नहीं होता; क्योंकि कहीं भी संज्ञीका**—नामवालेका—**प्रतिषेध प्रतिषेध्यके बिना—जिसका निषेध किया जाय उसके अस्तित्व-बिना—नहीं बनता। द्वैत शब्द एक संज्ञी है और**

इसलिये उसके निषेधरूप जो अद्वैत शब्द है वह द्वैतके अस्तित्वकी मान्यता-बिना नहीं बनता ।)'

[इस प्रकार अद्वैत एकान्तका पक्ष लेनेवाले ब्रह्माद्वैत, संवेदनाद्वैत और शब्दाद्वैत जैसे मत सदोष एवं बाधित ठहरते हैं ।]

पृथक्त्व-एकान्तकी सदोषता

पृथक्त्वैकान्त-पक्षेऽपि पृथक्त्वादपृथक्तु तौ ।
पृथक्त्वे न पृथक्त्वं स्यादनेकस्थो ह्यसौ गुणः ॥२८॥

'(अद्वैत एकान्तमें दोष देखकर) **यदि पृथक्पनका एकान्त-पक्ष लिया जाय**—यह माना जाय कि वस्तुतत्त्व एक दूसरेसे सर्वथा भिन्न है—**तो इसमें भी दोष आता है और यह प्रश्न पैदा होता है कि पृथक्त्व-गुणसे द्रव्य और गुण पृथक् हैं या अपृथक्** ? **यदि अपृथक् हैं तब तो पृथक्त्वका** एकान्त **ही न** रहा—वह बाधित हो गया । **और यदि पृथक् हैं तो पृथक्त्व नामका कोई गुण ही नहीं बनता** (जिसे वैशेषिकोंने गुणोंकी २४ संख्यामें अलगसे गिनाया है) **क्योंकि वह एक होते हुए भी अनेकोंमें स्थित माना गया है और इससे उसकी कोई पृथग्गति नहीं है**—पृथक् रूपमें उसकी स्थिति न तो दृष्ट है और न स्वीकृत है अतः पृथक् कहने-पर उसका अभाव ही कहना होगा ।

[यह कारिका वैशेषिकों तथा नैयायिकोंके पृथक्त्वैकान्त पक्षको लक्ष्य करके कही गयी है, जो क्रमशः ६ तथा १६ पदार्थ मानते हैं और उन्हें सर्वथा एक दूसरेसे पृथक् बतलाते हैं । अगली कारिकामें क्षणिकैकान्तवादी बौद्धोंके पृथक्त्वैकान्तपक्षको सदोष बतलाया जाता है ।]

एकत्वके लोपमें सन्तानादिक नहीं बनते

संतानः समुदायश्च साधर्म्यंञ्च निरंकुशः ।
प्रेत्य-भावश्च तत् सर्वं न स्यादेकत्व-निह्नवे ॥२९॥

'**यदि-एकत्वका सर्वथा लोप किया जाय**—सामान्य, सादृश्य, तादात्म्य अथवा सभी पर्यायोंमें रहनेवाले द्रव्यत्वको न माना जाय—**तो जो संतान, समुदाय और साधर्म्य तथा प्रेत्यभाव** (मरकर परलोकगमन) **निरंकुश है**—निर्बाध रूपसे माना जाता है—**वह सब नहीं बनता**—अर्थात् क्रमभावी पर्यायोंमें जो उत्तरोत्तर परिणाम-प्रवाहरूप अन्वय है वह घटित नहीं होता, रूप-रसादि जैसे सहभावी धर्मोंमें जो युगपत् उत्पाद-व्ययको लिये हुए एकत्र अवस्थानरूप समुदाय है वह भी नहीं बनता, सह-धर्मियोंमें समान परिणामकी जो एकता है वह भी नहीं बनती और न मरकर परलोकमें जाना अथवा एक ही जीवका दूसरा भव या शरीर धारण करना ही बनता है। इसी तरह बाल-युवा-वृद्धादि अवस्थाओंमें एक ही जीवका रहना नहीं बनता और (चकारसे) प्रत्यभिज्ञान-जैसे सादृश्य तथा एकत्वके जोडरूप ज्ञान भी नहीं बनते।'

ज्ञानको ज्ञेयसे सर्वथा भिन्न माननेमें दोष

सदात्मना च भिन्नं चेज्ज्ञानं ज्ञेयाद् द्विधाऽप्यसत् ।
ज्ञानाऽभावे कथं ज्ञेयं बहिरन्तश्च ते द्विषाम् ॥३०॥

(इसी तरह) **ज्ञानको** (जो कि अपने चैतन्यरूपसे ज्ञेय-प्रमेयसे पृथक् है) **यदि सत्स्वरूपसे भी ज्ञेयसे पृथक् माना जाय**—अस्तित्वहीन स्वीकार किया जाय—**तो ज्ञान और ज्ञेय दोनोंका ही अभाव ठहरता है**—ज्ञानका अभाव तो उसके अस्तित्व-विहीन

होनेसे हो गया और ज्ञेयका अभाव ज्ञानाभावके कारण बन गया; क्योंकि ज्ञानका जो विषय हो उसे ही ज्ञेय कहते हैं— **ज्ञानके अभावमें बाह्य तथा अंतरंग किसी भी ज्ञेयका अस्तित्व** (हे वीर जिन !) **आपसे द्वेष रखनेवालोंके यहाँ**—सर्वथा पृथक्त्वैकान्तवादी वैशेषिकादिकोंके मतमें—**कैसे बन सकता है** ?— उनके मतसे उसकी कोई भी समीचीन व्यवस्था नहीं बन सकती ।

वचनोंको सामान्यार्थक माननेमें दोष

सामान्याऽर्था गिरोऽन्येषां विशेषो नाऽभिलप्यते ।
सामान्याऽभावतस्तेषां मृषैव सकला गिरः ॥३१॥

'**दूसरोंके यहाँ**—बौद्धोंके मतमें—**वचन सामान्यार्थक हैं; क्योंकि उनके द्वारा** (उनकी मान्यतानुसार) **विशेषका**—याथात्म्यरूप स्वलक्षणका—**कथन नहीं बनता है** । (वचनोंके मात्र सामान्यार्थक होनेसे वे कोई वस्तु नहीं रहते—बौद्धोंके यहाँ उन्हें वस्तु माना भी नहीं गया—और विशेषके अभावमें सामान्यका भी कहीं कोई अस्तित्व नहीं बनता, ऐसी हालतमें सामान्यके भी अभावका प्रसंग उपस्थित होता है) **सामान्यका अवस्तुरूप अभाव होनेसे उन (बौद्धों)के सम्पूर्ण वचन मिथ्या ही ठहरते हैं**—वे वचन भी सत्य नहीं रहते जिन्हें वे सत्यरूपसे प्रतिपादन करते हैं ।'

उभय तथा अवक्तव्य एकान्तोंकी सदोषता

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वाद-न्याय-विद्विषाम् ।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नाऽवाच्यमिति युज्यते ॥३२॥

'(अद्वैत और पृथक्त्व दोनों एकान्तोंकी अलग-अलग मान्यतामें दोष देखकर) **यदि अद्वैत (एकत्व) और पृथक्त्व दोनोंका एकात्म्य (एकान्त) माना जाय तो स्याद्वाद-न्यायके विद्वेषियोंके**

यहाँ—उन लोगोंके मतमें जो अद्वैत पृथक्त्वादि सप्रतिपक्ष धर्मोंमें पारस्परिक अपेक्षाको न मानकर उन्हें स्वतंत्र धर्मोंके रूपमें स्वीकार करते हैं और इस तरह स्याद्वाद-न्यायके शत्रु बने हुए हैं—**वह एकात्म्य नहीं बनता** (उसी प्रकार जिस प्रकार कि अस्तित्व-नास्तित्वका एकात्म्य नहीं बनता); **क्योंकि उससे** (बन्ध्या-पुत्रकी तरह) **विरोध दोष आता है**—अद्वैतैकांत पृथक्त्वैकांतका और पृथक्त्वैकांत अद्वैतैकांतका सर्वथा विरोधी होनेसे दोनोंमें एकात्मता घटित नहीं हो सकती ।'

'(अद्वैत, पृथक्त्व और उभय तीनों एकान्तोंकी मान्यतामें दोष देखकर) **यदि अवाच्यता** (अवक्तव्यता) **एकान्तको माना जाय**—यह कहा जाय कि वस्तुतत्त्व एकत्व या पृथक्त्वके रूपमें सर्वथा अवाच्य (अनिर्वचनीय या अवक्तव्य) है—**तो वस्तुतत्त्व 'अवाच्य है' ऐसा कहना भी नहीं बनता**—इस कहनेसे ही वह 'वाच्य' हो जाता है, अवाच्य नहीं रहता; क्योंकि सर्वथा 'अवाच्य' की मान्यतामें कोई वचन-व्यवहार घटित ही नहीं हो सकता ।'

पृथक्त्व-एकत्व एकान्तोंका अवस्तुत्व-वस्तुत्व

अनपेक्ष्ये पृथक्त्वैक्ये ह्यवस्तु द्वय-हेतुतः ।
तदेवैक्यं पृथक्त्वं च स्वभेदैः साधनं यथा ॥३३॥

'**एक दूसरेकी अपेक्षा न रखनेवाले पृथक्त्व और एकत्व चूँकि हेतुद्वयसे अवस्तु हैं**—एकत्व-निरपेक्ष होनेसे पृथक्त्वका और पृथक्त्व-निरपेक्ष होनेसे एकत्वका कहीं कोई अस्तित्व नहीं बनता—**अतः एकत्व और पृथक्त्व सापेक्षरूपमें विरोधको प्राप्त न होनेसे उसी प्रकार वस्तुत्वको प्राप्त है जिस प्रकार कि साधन** (हेतु)—साधन अपने पक्षधर्मत्व, सपक्षमें सत्त्व और विपक्षसे व्यावृत्तिरूप

भेदों तथा अन्वय-व्यतिरेकरूप भेदोंके साथ सापेक्षताके कारण विरोधको न रखते हुए वस्तुत्वको प्राप्त है ।'

एकत्व-पृथक्त्व एकान्तोंकी निर्दोषव्यवस्था

सत्सामान्यात्तु सर्वैक्यं पृथग्द्रव्यादि-भेदतः ।
भेदाऽभेद-विवक्षायामसाधारण-हेतुवत् ॥३४॥

'(यदि यह कहा जाय कि एकत्वके प्रत्यक्ष-बाधित होनेके कारण और पृथक्त्वके सदाद्यात्मकतासे बाधित होनेके कारण प्रतीतिका निर्विषयपना है तब सब पदार्थोंमें एकत्व और पृथक्त्वको कैसे अनुभूत किया जा सकता है ? तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि) **सत्ता-अस्तित्वमें-समानता होनेकी दृष्टिसे तो सब** (जीवादि पदार्थ) **एक हैं**—इसलिये एकत्वकी प्रतीतिका विषय सत्सामान्य होनेसे वह निर्विषय नहीं है—**और द्रव्यादिके भेदकी दृष्टिसे**—द्रव्य, गुण और कर्मकी अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी जुदी-जुदी अपेक्षाको लेकर—**सब** (जीवादि पदार्थ) **पृथक् हैं**—इसलिये पृथक्त्वकी प्रतीतिका विषय द्रव्यादि-भेद होनेसे वह निर्विषय नहीं है। **जिस प्रकार असाधारण हेतु अभेदकी दृष्टिसे एकरूप और भेदकी दृष्टिसे अनेकरूप है उसी प्रकार सब पदार्थोंमें भेदकी विवक्षासे पृथक्त्व और अभेदकी विवक्षासे एकत्व सुघटित है ।'**

विवक्षा तथा अविवक्षा सत्‌की ही होती है

विवक्षा चाऽविवक्षा च विशेष्येऽनन्त-धर्मिणि ।
सतो विशेषणस्याऽत्र नाऽसतस्तैस्तदर्थिभिः ॥३५॥

'(यदि यह कहा जाय कि विवक्षा और अविवक्षाका विषय तो असत्‌रूप है तब उनके आधारपर तत्त्वकी व्यवस्था कैसे युक्त

हो सकती है तो ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि) **अनन्तधर्मा विशेष्यमें विवक्षा तथा अविवक्षा जो की जाती है वह सत् विशेषणकी ही की जाती है असत्की नहीं और यह उनके द्वारा की जाती है जो उस विशेषणके अर्थी या अनर्थी हैं**—अर्थी विवक्षा करता है और अनर्थी अविवक्षा। जो सर्वथा असत् है उसके विषयमें किसीका अर्थीपना या अनर्थीपना बनता ही नहीं—वह तो सकल–अर्थ-क्रियासे शून्य होनेके कारण गधेके सींगके समान अवस्तु होता है।'

एक वस्तुमें भेद और अभेदकी अविरोध-विधि

प्रमाण-गोचरौ सन्तौ भेदाऽभेदौ न संवृतौ।
तावेकत्राऽविरुद्धौ ते गुण-मुख्य-विवक्षया ॥३६॥

'(हे वीर जिन !) **भेद** (पृथक्त्व) **और अभेद** (एकत्व-अद्वैत) **दोनों** (**धर्म**) **सत्रूप** हैं—परमार्थभूत हैं—**संवृतिके विषय नहीं**—कल्पनारोपित अथवा उपचारमात्र नहीं है; **क्योंकि दोनों प्रमाणके विषय हैं**—(इसीसे) **आपके मतमें वे दोनों एक वस्तुमें गौण और मुख्यकी विवक्षाको लिये हुए एकमात्र अविरोध-रूपसे रहते हैं**—फलतः जिनके मतमें भेद और अभेदको परस्पर निरपेक्ष माना है उनके यहाँ वे विरोधको प्राप्त होते हैं और बनते ही नहीं।'

(ऐसी स्थितिमें (१) सर्वथा भेदवादी बौद्ध, जो पदार्थोंके भेदको ही परमार्थ सत्के रूपमें स्वीकार करते हैं—अभेदको नहीं; अभेदको संवृति (कल्पनारोपित) सत् बतलाते हैं और अन्यथा विरोधकी कल्पना करते हैं; (२) सर्वथा अभेदवादी ब्रह्माद्वैती आदि, जो पदार्थोंके अभेदको ही तात्त्विक मानते हैं—भेदको नहीं; भेदको कल्पनारोपित बतलाते हैं और अन्यथा दोनोंमें

परस्पर विरोधकी कल्पना करते हैं; (३) सर्वथा शून्यवादी बौद्ध, जो भेद और अभेद दोनोंमेंसे किसीको भी परमार्थ सत्के रूपमें स्वीकार नहीं करते किन्तु उन्हें संवृति—कल्पनाका विषय बतलाते हैं; और (४) उभयवादी नैयायिक, जो भेद और अभेद दोनोंको सत्रूपमें मानते तो हैं, परन्तु दोनोंको परस्पर निरपेक्ष बतलाते हैं; ये चारों ही यथार्थ वस्तु-तत्त्वका प्रतिपादन करनेवाले सत्य-वादी नहीं हैं। इन सबकी दृष्टिसे इस कारिकाके अर्थका स्पष्टी-करण[1] निम्न प्रकार है:—)

'अभेद सत् स्वरूप ही है—संवृति (कल्पना) के विषयरूप नहीं; क्योंकि वह भेदकी तरह प्रमाण-गोचर है। भेद सत्रूप ही है—संवृतिरूप नहीं, प्रमाण-गोचर होनेसे, अभेदकी तरह। भेद और अभेद दोनों सत् रूप हैं—संवृतिके विषयरूप नहीं, प्रमाण-गोचर होनेसे, अपने इष्ट तत्त्वकी तरह; और इस प्रकार एक अन्य पक्ष भी संगृहीत होता है; क्योंकि उन दोनोंको संवृतिरूप बतलानेवालों एवं वस्तुको समस्त धर्मोंसे शून्य मानने-वालों (शून्यवादियों) का भी सद्भाव पाया जाता है। (यहाँ इन पक्षोंके अनुमानोंमें जो-जो उदाहरण हैं वे साध्य-साधन-धर्मसे विकल (रहित) नहीं हैं; क्योंकि भेद, अभेद, उभय और अनुभय एकान्तोंके माननेवालोंमें उसकी प्रसिद्धि स्याद्वादियोंकी तरह पाई जाती है।) इस तरह हे वीर भगवन्! आपके यहाँ एक वस्तुमें भेद और अभेद दोनों धर्म परमार्थसत्के रूपमें विरुद्ध नहीं हैं, मुख्य-गौणकी विवक्षाके कारण प्रमाण-गोचर होनेसे अपने इष्ट-तत्त्वकी तरह। और इसलिये सामर्थ्यसे यह अनुमान भी फलित

१. यह स्पष्टीकरण श्रीविद्यानन्दाचार्यने अपनी अष्टसहस्री—टीकामें "इति कारिकायामर्थसंग्रहः" इस वाक्यके साथ दिया है।

होता है कि जो भेद और अभेद परस्पर निरपेक्ष हैं वे विरुद्ध ही हैं, प्रमाण-गोचर होनेसे भेदैकान्तादिकी तरह ।'

इति देवागमाप्तमीमांसायां द्वितीयः परिच्छेदः ।

तृतीय परिच्छेद

नित्यत्व-एकान्तकी सदोषता

नित्यत्वैकान्त-पक्षेऽपि विक्रिया नोपपद्यते ।
प्रागेव कारकाऽभावः क्व प्रमाणं क्व तत्फलम् ॥३७॥

'**यदि नित्यत्व एकान्तका पक्ष लिया जाय**—यह माना जाय कि पदार्थ सर्वथा नित्य है, सदा अपने एक ही रूपमें स्थिर रहता है—**तो विक्रियाकी उपपत्ति नहीं हो सकती**—अवस्थासे अवस्थान्तररूप परिणाम, हलन-चलनरूप परिस्पन्द अथवा विकारात्मक कोई भी क्रिया पदार्थमें नहीं बन सकती; **कारकोंका**—कर्त्ता, कर्म, करणादिका—**अभाव पहले ही** (कार्योत्पत्तिके पूर्व ही) **होता है**—जहाँ कोई अवस्था न बदले वहाँ उनका सद्भाव बनता ही नहीं—**और जब कारकोंका अभाव है तब** (प्रमाताका भी अभाव होनेसे) **प्रमाण और प्रमाणका फल जो प्रमिति** (सम्यग्ज्ञप्ति—यथार्थ जानकारी) **ये दोनों कहाँ बन सकते हैं** ?—**नहीं बन सकते** । **इनके तथा प्रमाताके अभावमें** 'नित्यत्व एकान्त-**का पक्ष लेनेवाले सांख्योंके यहाँ जीवतत्त्वकी सिद्धि नहीं बनती और न दूसरे ही किसी तत्त्वकी व्यवस्था ठीक बैठती है ।**'

प्रमाण और कारकोंके नित्य होनेपर विक्रिया कैसी ?

प्रमाण-कारकैर्व्यक्तं व्यक्तं चेदिन्द्रियाऽर्थवत् ।
ते च नित्ये विकार्यं किं साधोस्ते शासनाद्बहिः ॥३८॥

'(यदि सांख्यमत-वादियोंकी ओरसे यह कहा जाय कि कारणरूप जो अव्यक्त पदार्थ है वह सर्वथा नित्य है, कार्यरूप जो व्यक्त पदार्थ है वह नित्य नहीं, उसे तो हम अनित्य मानते हैं और इसलिए हमारे यहाँ विक्रिया बनती है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि) **इन्द्रियोंके-द्वारा उनके विषयको अभिव्यक्तिके समान जिन प्रमाणों तथा कारकोंके द्वारा अव्यक्तको व्यक्त हुआ बतलाथा जाता है वे प्रमाण और कारक दोनों ही जब सर्वथा नित्य माने गये हैं तब उनके द्वारा विक्रिया बनतो कौन-सी है ?**—सर्वथा नित्यके द्वारा कोई भी विकाररूप क्रिया नहीं बन सकती और न कोई अनित्य कार्य ही घटित हो सकता है। **हे साधो !**—वीर भगवन् !—**आपके शासनके बाह्य**—आपके-द्वारा अभिमत अनेकान्तवादकी सीमाके बाहर—जो **नित्यत्वका सर्वथा एकान्तवाद है उसमें विक्रियाके लिये कोई स्थान नहीं है**—सर्वथा नित्य कारणोंसे अनित्य कार्योंकी उत्पत्ति या अभिव्यक्ति बन ही नहीं सकती और इसलिये उक्त कल्पना भ्रम-मूलक है।'

कार्यके सर्वथा सत् होनेपर उत्पत्ति आदि नहीं बनती

यदि सत्सर्वथा कार्यं पुंवन्नोत्पत्तुमर्हति ।
परिणाम-प्रक्लृप्तिश्च नित्यत्वैकान्त-बाधिनी ॥३९॥

'(यदि सांख्योंकी ओरसे यह कहा जाय कि हम तो कार्य-कारण-भावको मानते हैं—महदादि कार्य हैं और प्रधान उनका

कारण है—इसलिए हमारे यहाँ विक्रियाके बननेमें कोई बाधा नहीं आती, तो यह कहना अनालोचित सिद्धान्तके रूपमें अविचारित है; क्योंकि कार्यकी सत् और असत् इन दो विकल्पोंके अतिरिक्त तीसरी कोई गति नहीं।) **कार्यको यदि सर्वथा सत् माना जाय तो वह चैतन्य पुरुषकी तरह उत्पत्तिके योग्य नहीं ठहरता**—कूटस्थ होनेसे उसमें उत्पत्ति जैसी कोई बात नहीं बनती, जिस प्रकार कि पुरुषमें नहीं बनती। दूसरे शब्दोंमें यों कहिये कि जो सर्वथा सत् है उसके चैतन्यकी तरह कार्यत्व नहीं बनता, चैतन्य कार्य नहीं है; अन्यथा चैतन्यरूप जो पुरुष माना गया है उसके भी कार्यत्वका प्रसंग आएगा। अतः जिस प्रकार सर्वथा सत्रूप होनेसे चैतन्य कार्य नहीं है उसी प्रकार महदादिकके भी कार्यत्व नहीं बनता। जब नई कार्योत्पत्ति ही नहीं तब विक्रिया कैसी? और कार्यको यदि सर्वथा असत् माना जाय तो उससे सिद्धान्त-विरोध घटित होता है; क्योंकि कार्य-कारण-भावकी कल्पना करनेवाले सांख्योंके यहाँ कार्यको सत्रूपमें ही माना है[1]—गगन-कुसुमके समान असत्रूपमें नहीं।'

'(यदि यह कहा जाय कि वस्तुमें अवस्थासे अवस्थान्तर होने रूप जो विवर्त है—परिणाम है—वही कार्य है तो इससे वस्तु परिणामी ठहरी) **और वस्तुमें परिणामकी कल्पना ही नित्यत्वके एकान्तको बाधा पहुँचानेवाली है**—सर्वथा नित्यत्वके एकान्तमें कोई प्रकारका परिणाम, परिवर्तन अथवा अवस्थान्तर बनता ही नहीं।'

---

१. 'असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसंभवाभावात्। शक्तस्य (कार्यस्य) शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्'' ॥ इति हि सांख्यानां सिद्धान्तः।'

—अष्टसहस्री पृ० १८१

नित्यत्वैकान्तमें पुण्य-पापादि नहीं बनते

पुण्य-पाप-क्रिया न स्यात्प्रेत्यभावः फलं कुतः ।
बन्ध-मोक्षौ च तेषां न येषां त्वं नाऽसि नायकः ॥४०॥

'(ऐसी स्थितिमें हे वीरजिन !) **जिनके आप** (अनेकान्तवादी) **नायक** (स्वामी) **नहीं हैं उन सर्वथा नित्यत्वैकान्तवादियोंके यहाँ** (मतमें) **पुण्य-पापकी क्रिया**—मन-वचन-कायकी शुभ या अशुभ प्रवृत्तिरूप अथवा उत्पादव्ययरूप कोई क्रिया—**नहीं बनती,** (क्रियाके अभावमें) **परलोक-गमन भी नहीं बनता,** (सुख-दुःखरूप) **फलप्राप्तिकी तो बात ही कहाँसे हो सकती है ?**—वह भी नहीं बन सकती—**और न बन्ध तथा मोक्ष ही बन सकते हैं।**—तब सर्वथा नित्यत्वके एकान्तपक्षमें कौन परीक्षावान् किसलिए आदरवान् हो सकता है ? उसमें सादर-प्रवृत्तिके लिये किसी भी परीक्षकके वास्ते कोई भी आकर्षण अथवा कारण नहीं है ।'

क्षणिक-एकान्तकी सदोषता

क्षणिकैकान्त-पक्षेऽपि प्रेत्यभावाद्यसम्भवः ।
प्रत्यभिज्ञाद्यभावान्न कार्यारम्भः कुतः फलम् ॥४१॥

'(नित्यत्वैकान्तमें दोष देख कर) **यदि क्षणिक एकान्तका पक्ष लिया जाय**—बौद्धोंके सर्वथा अनित्यत्वरूप एकान्तवादका आश्रय लेकर यह कहा जाय कि सर्व पदार्थ क्षण-क्षणमें निरन्वय-विनाशको प्राप्त होते रहते हैं, कोई भी उनमें स्थिर नहीं है—**तो भी प्रेत्यभावादिक असंभव ठहरते हैं**—परलोकगमन और बन्ध तथा मोक्षादिक नहीं बन सकते । (इसके सिवाय प्रत्यभिज्ञान, स्मरण और अनुमानादि जैसे ज्ञान भी नहीं बन सकते) **प्रत्यभिज्ञानादि जैसे ज्ञानोंका अभाव होनेसे कार्यका आरम्भ नहीं**

बनता और जब कार्यका आरम्भ ही नहीं तब उसका (सुख-दु:खादिरूप अथवा पुण्य-पापादिरूप) **फल तो कहाँसे हो सकता है ?**—नहीं हो सकता। अतः सर्वथा क्षणिकैकान्त भी परीक्षावानोंके लिये आदरणीय नहीं है।'

कार्यके सर्वथा असत् होनेपर दोषापत्ति

यद्यसत्सर्वथा कार्यं तन्माजनि ख-पुष्पवत्।
मोपादान-नियामोऽभून्माऽऽश्वासः कार्य-जन्मनि ॥४२॥

'(क्षणिकैकान्तमें कार्यका सत्-रूपसे उत्पाद तो बनता ही नहीं; क्योंकि उससे सिद्धान्त-विरोध घटित होता है—क्षणिक एकान्तमें किसी भी वस्तुको सर्वथा सत्-रूप नहीं माना गया है। तब कार्यको असत् ही कहना होगा।) **यदि कार्यको सर्वथा असत् कहा जाय तो वह आकाशके पुष्प-समान न होने रूप ही है। यदि असत्का भी उत्पाद माना जाय तो फिर उपादान कारणका कोई नियम नहीं रहता और न कार्यकी उत्पत्तिका कोई विश्वास ही बना रहता है**—गेहूँ बोकर उपादान कारणके नियमानुसार हम यह आशा नहीं रख सकते कि उससे गेहूँ ही पैदा होंगे, असदुत्पादके कारण उससे चने जौ या मटरादिक भी पैदा हो सकते हैं और इसलिए हम किसी भी उत्पादन-कार्यके विषयमें निश्चित नहीं रह सकते; सारा ही लोक-व्यवहार बिगड़ जाता है और यह सब प्रत्यक्षादिकके विरुद्ध है।'

क्षणिकैकान्तमें हेतुफल-भावादि नहीं बनते

न हेतु-फल-भावादिरन्यभावादनन्वयात्।
सन्तानान्तरवन्नैकः सन्तानस्तद्वतः पृथक् ॥४३॥

'(इसके सिवाय) **क्षणिकैकान्तमें पूर्वोत्तरक्षणोंके हेतुभाव और फलभाव आदि कभी नहीं बनते; क्योंकि सर्वथा अन्वयके**

न होनेके कारण उन पूर्वोत्तर क्षणोंमें सन्तानान्तरकी तरह सर्वथा अन्यभाव होता है। (यदि यह कहा जाय कि पूर्वोत्तर-क्षणोंका सन्तान एक है तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि **जो एकसन्तान होता है वह सन्तानीसे पृथक नहीं होता**—सर्वथा पृथक्रूपमें उसका अस्तित्व बनता ही नहीं।'

संवृति और मुख्यार्थकी स्थिति

अन्येष्वनन्यशब्दोऽयं संवृतिर्न मृषा कथम्।
मुख्यार्थः संवृत्तिर्न स्याद् विना मुख्यान्न संवृतिः ॥४४॥

'**यदि** (बौद्धोंकी ओरसे) **यह कहा जाय कि अन्योंमें अनन्य शब्दका यह जो व्यवहार है**—सर्वथा भिन्न चित्त-क्षणोंको जो सन्तानके रूपमें अनन्य, अभिन्न अथवा एक आत्मा कहा जाता है—**वह संवृति है**—काल्पनिक अथवा औपचारिक **है**, वास्तविक नहीं—**तो सर्वथा संवृतिरूप होनेसे वह मिथ्या क्यों नहीं है ?** अवश्य ही मिथ्या है, और इसलिये उसके आधारपर सन्तान आत्मा जैसी कोई वस्तु व्यवस्थित नहीं बनती। **यदि संतानको मुख्य अर्थके रूपमें माना जाय तो जो मुख्यार्थ होता है वह सर्वथा संवृतिरूप नहीं होता और यदि संवृतिरूपमें उसे माना जाय तो संवृति बिना मुख्यार्थके बनती नहीं**—मुख्यके बिना उपचारकी प्रवृत्ति होती ही नहीं; जैसे सिंहके सद्भाव-बिना सिंहका चित्र नहीं बनता।'

चतुष्कोटि-विकल्पके अवक्तव्यकी बौद्ध-मान्यता

चतुष्कोटेर्विकल्पस्य सर्वान्तेषूक्त्ययोगतः।
तत्त्वाऽन्यत्वमवाच्यं चेत्तयोः सन्तानतद्वतोः ॥४५॥

'**यदि** (बौद्धोंकी ओरसे) **यह कहा जाय कि चूँकि सब धर्मोंमें चतुष्कोटिविकल्पके कथनका अयोग है**—सत्त्व-एकत्वादि

किसी भी धर्मके विषयमें यह कहना नहीं बन सकता कि वह सत्-रूप है या असत्-रूप है अथवा सत्-असत् दोनों (उभय) रूप है या दोनोंरूप नहीं (अनुभयरूप) है; क्योंकि सर्वथा सत् कहनेपर उसकी उत्पत्तिके साथ विरोध आता है, सर्वथा असत् कहने पर शून्य-पक्षमें जो दोष दिया जाता है वह घटित होता है, सर्वथा उभयरूप कहनेपर दोनों दोषोंका प्रसंग आता है और सर्वथा अनुभय पक्षके लेनेपर वस्तु निर्विषय, नीरूप, निःस्वभाव अथवा निरुपाख्य ठहरती है और तब उसमें किसी भी विकल्पकी उत्पत्ति नहीं बनती—**अतः उन सन्तान सन्तानीका भी तत्त्व** (एकत्व—अभेद) **धर्म तथा अन्यत्व** (नानात्व—भेद) **धर्म** (धर्म होनेसे) **अवाच्य ठहरता है।** तदनुसार उभयत्व-अनुभयत्व धर्म भी (अवाच्य ठहरते हैं); क्योंकि वस्तुके धर्मको वस्तुसे सर्वथा अनन्य (अभिन्न) कहनेपर, वस्तुमात्रका प्रसंग आता है, वस्तुसे सर्वथा अन्य (भिन्न) कहनेपर व्यपदेशकी सिद्धि नहीं होती अर्थात् यह कहना नहीं बनता कि अमुक वस्तुका यह धर्म है, सर्वथा उभय (भिन्नाऽभिन्न) कहनेपर दोनों दोष आते हैं और सर्वथा अनुभय (न भिन्न और न अभिन्न) कहनेपर वस्तु निरुपाख्य एवं निःस्वभाव ठहरती है—इससे सन्तान-सन्ततीके धर्म-विषयमें कुछ भी कहना नहीं बनता; (तो यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि)'

अवक्तव्यकी उक्तमान्यतामें दोष

अवक्तव्यचतुष्कोटिविकल्पोऽपि न कथ्यताम् ।
असर्वान्तमवस्तु स्यादविशेष्य-विशेषणम् ॥४६॥

'तब तो (बौद्धोंको) **'चतुष्कोटिविकल्प अवक्तव्य हैं' यह भी नहीं कहना चाहिये;**—क्योंकि सब धर्मोंमें उक्तिका अयोग

बतलाने अर्थात् सर्वथा अवक्तव्य (अनभिलाप्य) का पक्ष लेनेपर 'चतुष्कोटिविकल्प अवक्तव्य है' यह कहना भी नहीं बनता, कहनेसे कथंचित् वक्तव्यत्वका प्रसंग उपस्थित होता है और न कहनेसे दूसरोंको उसका बोध नहीं कराया जा सकता। ऐसी स्थितिमें उसके सर्वविकल्पातीत्व फलित होता है। **जो सर्व विकल्पातीत है वह असर्वान्त** (सब धर्मोंसे रहित) **है और जो असर्वान्त है वह** (आकाश-कुसुमके समान) **अवस्तु है; क्योंकि उसके विशेष्य-विशेषणभाव नहीं बनता**—न वह विशेष्य है और न विशेषण।'

(और यदि यह कहा जाय कि स्वसंवेदनसे विशेषण-विशेष्य-रहित ही तत्त्व प्रतिभासित होता है तो वह ठीक नहीं; क्योंकि स्वसंवेदनके भी सत्त्व (अस्तित्व) विशेषणकी विशिष्टता-से विशेष्यका ही अवभासन होता है। स्वसंवेदनके उत्तरकालमें होनेवाले विकल्पबुद्धिमें 'स्वका संवेदन' इस प्रकार विशेषण-विशेष्यभाव अवभासित होता है—स्वसंवेदनके स्वरूपमें नहीं। यदि यह कहा जाय कि स्वसंवेदन अविशेष्य-विशेषणरूप है और वह स्वतः प्रतिभासित होता है तो इससे (भी) स्वसंवेदनमें विशेषण-विशेष्यभाव सिद्ध होता है; क्योंकि वैसा कहनेपर अविशेषणविशेष्यत्व ही विशेषण हो जाता है।)

निषेध सत्का होता है असत्का नहीं

द्रव्याद्यन्तरभावेन निषेधः संज्ञिनः सतः।
असद्भेदो न भावस्तु स्थानं विधि-निषेधयोः ॥४७॥

'(यदि विशेषण-विशेष्यभावको सर्वथा असत् माना जाय तो उसका निषेध नहीं बनता; क्योंकि) **जो संज्ञी** (स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षा) **सत् होता है उसीका परद्रव्य-क्षेत्रकाल-**

भावकी अपेक्षा निषेध किया जाता है, न कि असत्का। सर्वथा असत् पदार्थ तो विधि-निषेधका विषय ही नहीं होता—जो पदार्थ परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षाके समान स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे भी असत् है वह सर्वथा असत् है, उसकी विधि कैसी ? जिसकी विधि नहीं उसका निषेध नहीं बनता; क्योंकि निषेध विधि-पूर्वक होता है। और इसलिये जो सत् होकर अपने द्रव्यादिकी अपेक्षा कथंचित् वक्तव्य है उसीके (परद्रव्यादिकी अपेक्षा निषेध होनेसे) अवक्तव्यपना युक्त ठहरता है। और जो सत्-पदार्थ स्वद्रव्यादिकी अपेक्षा कथंचित् विशेषण-विशेष्यरूप है उसीके (परद्रव्यादिकी अपेक्षा) अविशेष्य-विशेषणपना ठीक घटित होता है। अतः एकान्तसे कोई वस्तु अवक्तव्य या अविशेष्य-विशेषणरूप नहीं है, ऐसा बौद्धोंको जानना चाहिये।'

अवस्तुकी अवक्तव्यता और वस्तुकी अवस्तुता

अवस्त्वनभिलाप्यं स्यात्सर्वान्तैः परिवर्जितम्।
वस्त्वेवाऽवस्तुतां याति प्रक्रियाया विपर्ययात् ॥४८॥

'**जो सर्वधर्मोंसे रहित हैं वह अवस्तु है**—किसी भी प्रमाणका विषय न होने से—**और जो अवस्तु हैं वह** (ही सर्वथा) **अनभिलाप्य** (अवाच्य) **है न कि वस्तु**; क्योंकि जो वस्तु है वह प्रमाणके-द्वारा परिनिष्ठित (प्रतिष्ठित) होती है और इसलिये सर्वथा अनभिलाप्य नहीं होती।'

'(यदि यह कहा जाय कि सकल-धर्मोंसे रहित निरूपाख्य वस्तु स्याद्वादियोंकेद्वारा स्वीकृत नहीं है तब उनका यह वचन कि 'अवस्तु अनभिलाप्य है' युक्त नहीं जान पड़ता, तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि सर्वधर्मोंसे रहित अवस्तुका अनभिलाप्य-रूपमें कथन पर-परिकल्पनामात्रसे सम्बन्ध रखता है, न कि

प्रमाणबलसे) प्रमाणबलसे तो **वस्तु ही अवस्तुताको प्राप्त होती है, प्रक्रियाके विपरीत हो जाने अथवा बदल जानेसे**, अर्थात् जब किसी वस्तुकी स्वद्रव्यादिचतुष्टयलक्षण-प्रक्रिया, जो कि कथंचिद्रूपको लिये हुए होती है, बदल जाती है—परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षाको धारण करती है—तव वह वस्तु ही अवस्तु बन जाती है। जैसे स्वरूपसिद्ध घटके पटादि-पररूपोंकी अपेक्षा—पटादिके किसी भी रूपको घट माननेकी दृष्टिसे—अघटपना है।

(यदि यह कहा जाय कि वस्तुको ही अवस्तु बतलाना परस्पर-विरूद्ध है; क्योंकि वस्तु और अवस्तुकी स्थिति एक-दूसरेके परि-हाररूप है—वस्तु अवस्तु नहीं होती और न अवस्तु कभी वस्तु बनती है—तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि अभाव-वाचक शब्दोंके वचन-द्वारा भी भावका अभिधान (कथन) होता है; जैसे 'अब्राह्मणको लाओ' इस वाक्यमें 'अब्राह्मण' शब्द ब्राह्मण-वस्तुके अभाव (निषेध) का वाचक होते हुए भी ब्राह्मणसे भिन्न अन्य क्षत्रियादिवस्तुके अभावका वाचक नहीं किन्तु उनके भावका ही वाचक है और इसलिये उक्त वाक्यके-द्वारा यह समझा जाता है कि 'ब्राह्मणको नहीं किन्तु क्षत्रियादिकको वुलाया जा रहा है;' तदनुसार ही क्षत्रियादिकको लाकर उपस्थित किया जाता है। इस तरह ब्राह्मण कोई वस्तु है उसीको 'अब्राह्मण' शब्दके-द्वारा कथंचित् अवस्तु कहा गया है, सर्वथा अभावरूप अवस्तु नहीं; और इसलिक्षे अवस्तुका आशय यहाँ अविवक्षित वस्तु समझना चाहिये। अविवक्षित (गौण) वस्तु विवक्षित (मुख्य) वस्तुके अस्तित्व (भाव)के बिना नहीं बनती (मुख्यादृते गौण-विधिर्न दृष्टः) और न स्वयं अस्तित्व-विहीन होती है। इसीसे अर्हन्मतानुयायी स्याद्वादियोंके यहाँ वस्तुको ही

अवस्तु कहनेमें कोई विरोध नहीं आता—मुख्य-गौणकी व्यवस्था-विधिसे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप प्रक्रियाके स्वसे पर और परसे स्व-रूपमें बदल जानेसे यह सब सुघटित होता है। इसीसे कोई वस्तु सर्वथा भावरूप नहीं है, स्वरूपकी तरह पररूपसे भी भावका प्रसंग आनेसे; और न सर्वथा अभावरूप ही है, पररूपकी तरह स्वरूपसे भी अभावका प्रसंग उपस्थित होनेसे। वस्तुको सर्वथा भाव या सर्वथा अभावरूप माननेसे वस्तुकी कोई व्यवस्था ही नहीं बनती। प्रत्येक वस्तु भावकी तरह अभाव-धर्मको भी साथमें लिये हुए है और वह भी वस्तुकी व्यवस्थाका अंग है। उसे छोड़ देनेपर वस्तु-व्यवस्था बन ही नहीं सकती। इसीलिये स्याद्वादियोंके यहाँ अपेक्षावश कथंचित् भावाऽभावरूपसे वस्तुका प्रतिपादन किया जाता है।)

सर्व धर्मोंके अवक्तव्य होनेपर उनका कथन नहीं बनता

सर्वान्ताश्चेदवक्तव्यास्तेषां किं वचनं पुनः।
संवृत्तिश्चेन्मृषैवैषा परमार्थ-विपर्ययात् ॥४९॥

'यदि (क्षणिक एकान्तवादी बौद्धोंके द्वारा) **यह कहा जाय कि 'सर्व धर्म अवक्तव्य हैं'**—सर्वथा वचनके अगोचर हैं—**तो फिर उनका धर्म-देशना-रूप तथा स्वपक्षके साधन और पर-पक्षके दूषणरूप वचन कैसा?**—वह किसी तरह भी नहीं बन सकेगा और एकमात्र मौनका ही शरण लेना होगा; क्योंकि 'सर्व धर्म अवक्तव्य हैं' इस कथनमें स्ववचन-विरोधका दोष उसी तरह सुघटित होता है जिस तरह कि कोई अपने मुखसे दूसरोंको यह प्रतिपादन करे कि 'मैं सदाके लिये मौनव्रती हूँ;' क्योंकि उस समय वह बोल रहा है इसलिये उसका सदाके लिये मौनव्रती होना स्वयं उसके उस वचनसे ही बाधित हो जाता है। **सर्व**

धर्मोंके सर्वथा अवक्तव्य होनेपर उनकी कोई चर्चा-वार्ता नहीं बन सकती, उन्हें अवक्तव्य कहना भी नहीं बनता, अवक्तव्य कहना भी उन्हें वक्तव्य ठहराता है।'

'यदि यह कहा जाय कि उक्त वचन संवृतिरूप है—व्यवहारके प्रवर्तनार्थ उपचाररूपको लिये हुए है—**तो इस संवृतिरूप वचनसे सत्यका प्रतिपादन कैसे हो सकता है** ? नहीं हो सकता; क्योंकि संवृति परमार्थके विपरीत—यथार्थताके विरूद्ध—होनेसे स्वयं बौद्धोंके यहाँ मिथ्या मानी गई है। सर्वधर्म जब सर्वथा अवक्तव्य हैं तब वे 'अवक्तव्य हैं' इस वचनके-द्वारा भी वक्तव्य नहीं बन सकते और न दूसरोंको उनका तथा उनकी अवक्तव्यताका प्रत्यय (बोध) कराया जा सकता है।'

अवाच्यका हेतु अशक्ति, अभाव या अबोध ?

अशक्यत्वादवाच्यं किमभावात्किमबोधतः ।
आद्यन्तोक्ति-द्वयं न स्याकिं व्याजेनोच्यतां स्फुटम् ॥५०॥

'यहाँ क्षणिक एकान्तवादी बौद्धोंसे पूछा जाता है कि तुम्हारा यह सर्वथा अवक्तव्य कथन किस हेतुपर अवलम्बित है। **क्या अशक्तिके कारण** ?—कथन करनेकी सामर्थ्य न होनेसे **अवक्तव्य है ?—या अभावके कारण** ?—वस्तु-धर्मका अस्तित्व न होनेसे अवक्तव्य है ? **अथवा अज्ञानके कारण** ?—वस्तु धर्मों-की अनभिज्ञता—अजानकारीसे अवक्तव्य है ? (इन तीन कारणोंसे भिन्न अन्य कोई कारण नहीं हो सकता; क्योंकि मौनव्रत, प्रयो-जनाभाव, भय और लज्जादिक जैसे कारणोंका, जो कि इन्द्रिय-ताल्वादिकरणव्यापारकी अशक्तिमें निमित्तकारण होते हैं, अशक्तिमें ही अन्तर्भाव है।) **इन तीनोंमें आदि और अन्तके दो कारणोंका (अशक्ति तथा अज्ञान) का कथन तो बनता नहीं;**

क्योंकि बौद्धोंने महात्मा बुद्धको प्रज्ञापारमिताके रूपमें सर्वज्ञ माना है और उसमें क्षमा, मैत्री, ध्यान, दान, वीर्य, शील, प्रज्ञा, करुणा, उपाय और प्रमोद नामके दस बल अंगीकार किये हैं। ऐसी स्थितिमें उक्त दो कारणोंका कथन कैसे बन सकता है? नहीं बन सकता। तब तीसरा कारण ही शेष रह जाता है। **अतः अवक्तव्यका बहाना बनानेसे क्या? स्पष्ट कहिये कि वस्तुतत्त्वका सर्वथा अभाव है**—किसी भी वस्तुका कहीं कोई अस्तित्व नहीं है। ऐसा स्पष्ट कहनेसे मायाचारका दोष नहीं रहेगा, जो कि बुद्धके आप्तत्वमें बाधक पड़ता है, और तब इस अवक्तव्यवाद और सर्वथा अभावरूप शून्यवादमें कोई अन्तर नहीं रहेगा।'

क्षणिकैकान्तमें हिंसा-अहिंसादिकी विडम्बना

हिनस्त्यनभिसंधातृ न हिनस्त्यभिसंधिमत्।
बध्यते तद्द्वयापेतं चित्तं बद्धं न मुच्यते ॥५१॥

'(बौद्धोंके क्षण-क्षणमें निरन्वय-विनाशरूप सिद्धान्तके अनुसार) **जो चित्त हिंसाके अभिप्रायसे रहित है वह तो हिंसा करता है, जो हिंसा करनेके अभिप्रायसे युक्त है वह हिंसा नहीं करता, जिसने हिंसाका कोई अभिप्राय अथवा संकल्प नहीं किया और न हिंसा ही की वह चित्त बन्धनको प्राप्त होता है और जो चित्त बन्धनको प्राप्त होता है उसकी मुक्ति नहीं होती**—मुक्ति अन्य अबद्ध-चित्तकी होती है; क्योंकि हिंसाका अभिप्राय करनेवाला चित्त वैसा अभिप्राय करनेके क्षणमें ही नष्ट हो जाता है और उत्तरक्षणमें दूसरा चित्त, जिसने हिंसाका कोई इरादा, विचार अथवा संकल्प नहीं किया, उस हिंसा-कार्यको करता है; उस हिंसक चित्तके तत्क्षण नष्ट हो जानेपर तीसरे क्षणमें तीसरा ही चित्त, जिसने न तो हिंसाका कोई संकल्प किया और न हिंसाकार्य

ही किया, उस द्वितीय चित्तके हिंसाकर्मसे बन्धनको प्राप्त होता है और वन्धको प्राप्त हुए उस तृतीय चित्तके भी तत्क्षण नष्ट हो जानेपर उसे उस पापकर्मके बन्धनसे मुक्तिकी प्राप्ति नहीं होती—तब मुक्ति किसकी होती है ? क्या अबद्ध-चित्तकी भी मुक्ति बनती है ? नहीं बनती। मुक्तिके बन्धपूर्वक होनेसे जब बन्धन ही नहीं तब बन्धनसे छुटकारा पानेरूप मुक्ति कैसी ? इस तरह बौद्धोंके यहाँ कृतकर्मके फलका नाश और अकृतकर्मके फल-भोगका प्रसंग उपस्थित होता है—अर्थात् जिसने कर्म किया वह उसके फलका भोक्ता नहीं होता और जिसने कर्म नहीं किया उसे उस कर्मका फल भोगना होता है, जो कि एक उपहासका विषय है। इसके सिवाय जब बद्ध-चित्तकी मुक्ति नहीं होती तब मुक्तिके लिये यम-नियमादिका अनुष्ठान व्यर्थ ठहरता है।'

नाशको निर्हेतुक माननेपर दोषापत्ति

अहेतुकत्वान्नाशस्य हिंसाहेतुर्न हिंसकः।
चित्त-सन्तति-नाशश्च मोक्षो नाष्टाङ्ग-हेतुकः ॥५२॥

'(क्षणिक एकान्तवादी बौद्धमतके अनुसार नाश स्वयं होता है, उसका कोई कारण नहीं होता), **जब नाशका कोई कारण नहीं होता तब हिंसक हिंसाका हेतु नहीं ठहरता**—किसीको हिंसक कहना नहीं बनता। **इसी तरह चित्त-सन्ततिके नाशरूप जो मोक्ष माना गया है वह भी अष्टाङ्गहेतुक नहीं बनता।** बौद्धोंके यहाँ मोक्ष (निर्वाण) को जो सम्यक्त्व, संज्ञा, संज्ञी, वाक्काय-कर्म, अन्तर्व्यायाम, अजीव, स्मृति, और समाधि इन आठ हेतुओंसे हुआ बतलाया जाता है वह नाशके निर्हेतुक होनेसे उसी तरह बाधित ठहरता है जिस तरह सुगतके सर्वज्ञता और असर्वज्ञता दोनोंका कथन विरुद्ध ठहरता है।'

विरूपकार्यारम्भके लिये हेतुकी मान्यतामें दोष

विरूप-कार्यारम्भाय यदि हेतु-समागमः ।
आश्रयिभ्यामनन्योऽसावविशेषादयुक्तवत् ॥५३॥

'(बौद्धमतमें अन्वयके अभाव अथवा निरन्वय-विनाशके स्वीकार करनेसे सरूप—सदृशकार्य कोई होता नहीं, तब) **यदि बौद्धोंके द्वारा विसदृशकार्यके आरम्भके लिये हेतुका समागम इष्ट किया जाता है**—हिंसाके हेतुरूप हिंसक (वधक) का और मोक्षके हेतुरूप सम्यक्त्वादि अष्ट-अंगका व्यापार माना जाता है—**तो वह हेतु-समागम नाश तथा उत्पाद दोनोंका कारण होनेसे उनका आश्रयभूत है और इसलिये अपने आश्रयी नाश और उत्पादरूप दोनों कार्योंके साथ अनन्यरूप है**—जो मुद्गर-प्रहार घटनाश-कार्यका हेतु है वही कपालों (ठीकरों) के उत्पाद-कार्यका भी हेतु है, दोनों कार्योंका हेतु भिन्न-भिन्न न होनेसे दोनोंके लिये अयुक्तकी भाँति—तादात्म्यको प्राप्त शीशम-पना और वृक्षपनाके कारण-कलापकी तरह—एक ही हेतुका व्यापार ठीक घटित होता है और इससे बौद्धोंका नाश-कार्य भी सहेतुक ठहरता है, जिसे वे निर्हेतुक बतलाते है, यह एक हेतु-दोष इस हेतु-समागमकी मान्यतामें उपस्थित होता है। यदि विनाशके लिये हेतुका समागम नहीं, तो उत्पादके लिये भी हेतुका समागम मत मानों; क्योंकि कार्यकी दृष्टिसे—नाश और उत्पाद दोनोंमें कोई भेद न होनेसे—एकको निर्हेतुक और दूसरेको सहेतुक बतलाना युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता।'

व्याख्या—बौद्धोंसे प्रश्न है कि यदि विनाश निर्हेतुक है, उसका कोई कारण नहीं है, वह स्वरसतः होता है, तो कारणों-(हिंसाजनक हिंसक और मोक्षहेतु सम्यक्त्वादि अष्टाङ्ग) का

व्यापार किसके लिए होता है ? इस प्रश्नका वे यह समाधान करते हैं कि विसदृश-कार्यके उत्पादके लिये कारणोंका व्यापार होता है। परन्तु उनका यह समाधान ठीक नहीं है; क्योंकि कारणोंका व्यापार नाश तथा उत्पाद दोनोंका जनक होनेसे आश्रय है और आश्रय अपने आश्रयीसे—उत्पाद-नाशसे—अनन्य–अभिन्न होता हैं, भिन्न नहीं। कारण कि उन दोनोंमें परस्पर कोई अन्तर नहीं है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि अपृथक्-सिद्ध पदार्थोंके कारण-व्यापारमें भेद नहीं होता। शिंशपा और वृक्ष तथा चित्रज्ञान और नीलादि-निर्भास इन अपृथक्-सिद्ध पदार्थोंसे उनका कारण-व्यापार भिन्न नहीं है। एक कारण-समूहसे ही उनका आत्मलाभ होता है। वास्तवमें जो पूर्वाकारका विनाश है वही उत्तराकारका उत्पाद है। अतः दोनोंका कारण एक ही सामग्री है, भिन्न नहीं। अन्यथा, वैशेषिक मतका प्रसंग आवेगा। कैसा आश्चर्य है कि विसदृश-कार्यके उत्पादक कारणोंसे विनाशके कारण भिन्न न होनेसे उसे तो निर्हेतुक स्वीकार किया जाता है, और विनाशके कारणोंसे उत्पादके कारण भिन्न न होनेसे उसे निर्हेतुक नहीं माना जाता ! अतः नाश और उत्पादमें कोई अन्तर न होनेसे दोनोंको सहेतुक या अहेतुक मानना चाहिए। एकको अहेतुक और दूसरेको सहेतुक मानना युक्तियुक्त नहीं है।

स्कन्धादिके स्थित्युत्पत्तिव्यय नहीं बनता

स्कन्धाः सन्ततयश्चैव संवृतित्वादसंस्कृताः।
स्थित्युत्पत्तिव्ययास्तेषां न स्युः खर-विषाणवत् ॥५४॥

'(जब क्षणिक एकान्तवादी बौद्धोंके द्वारा विरूप-कार्यारम्भके लिये हेतुका समागम माना जाता है तब यह प्रश्न पैदा

होता है कि उस हेतुसे परमाणु-क्षण उत्पन्न होते हैं या स्कन्ध-सन्ततियाँ ? प्रथम पक्ष परमाणु-क्षणोंका उत्पन्न होना माननेसे स्थाप्य-स्थापक और विनाश्य-विनाशकभावकी तरह-हेतु-फलभावका भी विरोध उपस्थित होता है। तब सहेतुका उत्पत्ति कैसे बन सकती है ? कार्य-कारणके अभाव होनेपर ये स्थिति, उत्पत्ति और व्यय धर्म विरोधको प्राप्त होते हैं; क्योंकि परमाणु निरंश होते हैं। "न हेतु-फलभावादिरन्यभावदनन्वयात्' इस वाक्य-द्वारा ४३वीं कारिकाके अन्तर्गत क्षणिक-एकान्तमें पहले ही कार्य-कारण-भावका निषेध किया जा चुका है। स्थिति और विनाशकी तरह अहेतुका उत्पत्ति भी नहीं वनती; क्योंकि स्थाप्य-स्थापकके अभावमें जिस प्रकार स्थितिका और विनाश्य-विनाशकके अभावमें जिस प्रकार विनाशका भी अभाव होता है उसी प्रकार हेतु-फलभावके अभावमें उत्पत्तिका भी अभाव होता है, तब अहेतुका उत्पत्तिकी कल्पना कैसी ? यदि दूसरापक्ष—स्कन्ध-सन्ततियोंका उत्पन्न होना—माना जाय तो) **स्कन्ध-सन्ततियाँ बौद्धोंके यहाँ परमार्थ सत् न होनेसे असंस्कृत हैं**—अकार्यरूप हैं—**तब उनके लिये हेतुका समागम कैसा ?** साध्यके अभावमें साधनका भी अभाव होता है। **अतः** (**रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार रूपमें माने गये**) **बौद्धोंके जो पाँच स्कन्ध हैं वे कोई पारमार्थिक सत् न होकर संवृतिरूप कल्पना-मात्र हैं; उनके स्थिति, उत्पत्ति और विनाशका विधान गधेके सींगकी तरह नहीं बनता।**—गधेके सींगका सद्भाव न होनेसे जैसे उसमें स्थिति, उत्पत्ति और विनाश ये तीनों घटित नहीं होते वैसे ही परस्पर असंबद्ध रूप-रस-गन्ध-स्पर्शके परमाणुरूप 'रूपस्कन्ध', सुख-दुःखादिरूप 'वेदना-

स्कन्ध' सविकल्पक और निर्विकल्पक ज्ञानके भेदरूप **विज्ञानस्कन्ध,** वृक्षादिवस्तुओंके नाम (शब्द) रूप **संज्ञास्कन्ध** और ज्ञान-पुण्य-पापकी वासनारूप **संस्कारस्कन्ध** जब वास्तविक न होकर काल्पनिक हैं तो उनके स्थिति- उत्पत्ति और विनाश ये तीनों घटित नहीं होते और इनके घटित न होनेसे वे कोई कार्य नहीं रहते तब उनके लिये हेतु-समागमकी कल्पना ही व्यर्थ ठहरती है।'

उभय तथा अवक्तव्य एकान्तोंकी सदोषता

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वाद-न्याय-विद्विषाम् ।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥५५॥

'यदि नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों एकान्तपक्षोंको एक रूपमें माना जाय तो यह बात स्याद्वादन्यायके विद्वेषियोंके—सर्वथा एकान्तवादियोंके—**यहाँ बनती नहीं; क्योंकि इस मान्यतामें विरोध दोष आता है**—जैसा कि एक साथ जीने-मरनेमें विरोध है वैसा ही विरोध यहाँ भी घटित होता है।'

(यदि दोनों एकान्तोंका तादात्म्य माना जाय तो नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों या तो नित्यत्वरूपमें परिणत हो जायँगे या अनित्यत्वरूपमें; क्योंकि तादात्म्यावस्थामें विरोधी स्थिति न रहकर एक ही स्थिति हो जाती है। जब नित्यत्व-अनित्यत्वरूप दोनों एकान्तोंमेंसे किसी एक ही एकान्तकी स्थिति रही तब युगपत् उभय एकान्तोंकी मान्यता विरुद्ध ठहरती है।)

'यदि (नित्यत्व व अनित्यत्व दोनों एकान्तोंकी मान्यतामें विरोधकी उपस्थितिके भयसे) **अवाच्यता** (अनभिलाप्यता) **का एकान्त माना जाय तो वह भी नहीं बनता; क्योंकि सर्वथा अवाच्यका सिद्धान्त माननेपर 'तत्त्व सर्वथा अनभिलाप्य है' ऐसा अभिलाप** (वचन-व्यवहार) **करनेवाले बौद्धोंके स्ववचन-**

विरोध उपस्थित होता है—उसी प्रकार जिस प्रकार कि उस पुरुषके उपस्थित होता है जो यह कहे कि 'मैं सदा मौनव्रती हूँ'; क्योंकि उसका वैसा कहना उसके सदा मौन-व्रतका विरोधी है।'

नित्य-क्षणिक-एकान्तोंकी निर्दोष व्यवस्थाविधि

नित्यं तत्प्रत्यभिज्ञानान्नाकस्मात्तदविच्छिदा।
क्षणिकं कालभेदात्ते बुद्ध्यसंचरदोषतः ॥५६॥

'(हे स्याद्वादन्याय-नायक अर्हन् भगवन्) **आपके मतमें** (सम्पूर्ण जीवादि) **वस्तुतत्व कथंचित् नित्य है; क्योंकि उसका प्रत्यभिज्ञान होता है**—यह वही है जो पहले देखा था, ऐसा पूर्वोत्तर-दशामें जो एकत्वका बोध होता है वह उसके नित्यत्वको सिद्ध करता है। **और यह प्रत्यभिज्ञान अकस्मात्**—बिना किसी कारणके निर्विषय तथा भ्रान्तरूप—**नहीं होता; क्योंकि अविच्छेद रूपसे बिना किसी बाधाके अनुभवमें आता है।** (यदि प्रत्यक्षको बाधक माना जाय तो वह ठीक नहीं है; क्योंकि प्रत्यक्षका विषय वर्तमान पर्यायात्मक वस्तु होनेसे पूर्वाऽपर-पर्यायव्यापी एकत्वलक्षण प्रत्यभिज्ञानके विषयमें उसकी प्रवृत्ति नहीं बनती। जो अपना विषय नहीं, उसमें कोई बाधक या साधक नहीं होता जैसे श्रोत्रइन्द्रियके ज्ञान-विषयमें चक्षुइन्द्रियका ज्ञान।)

और आपके मतमें वस्तुतत्त्व कथंचित् क्षणिक है—अनित्य है; क्योंकि उसमें कालके भेदसे परिणाम-भेद पाया जाता है—क्षण-क्षणमें वस्तुकी पर्यायें पलटती रहती हैं, जो कथंचित् एक-दूसरेसे भिन्न होती हैं। पर्यायोंके इस पलटन (परिवर्तन) एवं परिणमनसे वस्तुमें प्रतिक्षण उत्पाद-व्ययके होते रहनेपर भी **वस्तुका अपने ध्रौव्य गुणके कारण कभी नाश नहीं होता। इसी पर्यायदृष्टिसे वस्तु कथंचित् क्षणिक है—सर्वथा क्षणिक नहीं।**

वस्तुको सर्वथा क्षणिक तथा सर्वथा नित्य माननेपर ज्ञानका संचार नहीं बन सकेगा, यह दोष आएगा। ज्ञानका संचार अनेकान्तकी मान्यतामें ही प्रतीतिगोचर होता है।'

उत्पाद-व्यय सामान्यका नहीं, विशेषका होता है

न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात्।
व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत्॥५७॥

'(हे भगवन्!) **आपके मतमें सामान्य स्वरूपसे**—सर्व अवस्थाओं अथवा पूर्वोत्तर-पर्यायोंमें साधारण स्वभावरूपसे रहनेवाले द्रव्यकी दृष्टिसे—**न तो कोई वस्तु उत्पन्न होती है और न विनाशको प्राप्त होती है; क्योंकि प्रकट अन्वयरूप है**—वस्तुका सामान्य स्वरूप जो द्रव्यस्वभाव है वह उसकी सब अवस्थाओंमें सदा स्थिर रहता है।'

(यदि यह कहा जाय कि काटे हुए नख-केश फिरसे उपजते हैं, उनमें अन्वयके दर्शन-द्वारा व्यभिचार-दोष आता है; क्योंकि उनमें उत्पत्ति और विनाश दोनों दिखाई पड़ते हैं जब कि अन्वयके कारण वे दोनों न होने चाहियें थे, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है; कारण कि अन्वयके साथ 'व्यक्त' विशेषण लगा हुआ है, जो इस बातका सूचक है कि एकत्वान्वय प्रमाणसे बाधित नहीं होना चाहिये। यहाँ ये नखादिक वे ही हैं ऐसा एकत्वान्वय प्रकट-प्रमाणसे बाधित हैं; क्योंकि उत्पन्न नखादिक वे ही न होकर उनके सदृश हैं जो कट चुके हैं।)

'**विशेषरूपसे**—पर्याय अथवा व्यतिरेककी दृष्टिसे—**वस्तु विनशती तथा उपजती है। एक वस्तुमें युगपत् उत्पाद, व्यय**

और ध्रौव्यका होना 'सत्' कहलाता है—जैसाकि सूत्रकारके 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्' इस वचनसे भी जाना जाता है।'

उत्पादादिकी भिन्नता और निरपेक्ष होनेपर अवस्तुता

कार्योत्पादः क्षयो हेतोर्नियमाल्लक्षणात्पृथक् ।
न तौ जात्याद्यवस्थानादनपेक्षाः खपुष्पवत् ॥५८॥

'**हेतुका**—उपादानकारणका—**जो क्षय है**—पूर्वाकारसे विनाश है—**वह उत्तराकाररूप कार्यका उत्पाद है; क्योंकि दोनोंके एक हेतुका नियम है**—जो हेतु उत्पादरूप कार्यके उत्पादका है वही उपादानके विनाशका हेतु है। इससे बौद्धोंका उत्पादको सहेतुक और विनाशको निर्हेतुक बतलाना बाधित ठहरता है। (इस पर यदि यह कहा जाय कि उत्पाद और विनाश दोनोंका एक ही हेतु होनेपर दोनों अभिन्न ठहरते हैं, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि) **उत्पाद और विनाश दोनों लक्षणभेदके कारण एक दूसरेसे कथंचित् भिन्न हैं**—कार्योत्पादका लक्षण स्वरूपलाभ है और हेतुक्षयका लक्षण स्वभावप्रच्युति है। इस तरह भिन्न लक्षणसे लक्षित होनेके कारण दोनों कथंचित् भिन्न हैं—सर्वथा भिन्न नहीं। **जाति आदिके अवस्थानके कारण नाश और उत्पाद दोनों भिन्न ही नहीं, कथंचित् अभिन्न भी हैं**; क्योंकि मिट्टी आदि द्रव्यके बिना घटका नाश और कपालका उत्पाद नहीं बनता—नाश और उत्पाद दोनों पर्यायकी अपेक्षासे हैं, जात्यादिके अवस्थानरूप सद्द्रव्यकी अपेक्षासे नहीं। सद्द्रव्य मिट्टी आदि है, वही घटाकार रूपसे नष्ट हुई और कपालके रूपसे उत्पन्न हुई, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है।

यदि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य परस्पर अपेक्षा न रखें, तो

तीनों ही आकाशके पुष्पके समान अवस्तु ठहरें—स्थिति और विनाशके बिना केवल उत्पाद नहीं बनता, नाश और उत्पादके बिना स्थिति नहीं बनती और स्थिति तथा उत्पादके बिना विनाश नहीं बनता। इससे यह स्पष्ट फलित होता है कि जो सत् है वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसे युक्त है, अन्यथा उसका सत्व ही नहीं बनता, वह आकाशकुसुमके सदृश अवस्तु ठहरता है।'

एक द्रव्यकी नाशोत्पादस्थितिमें भिन्न भावोंकी उत्पत्ति

घट-मौलि-सुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥५६॥

'(सुवर्ण घटको तोड़कर मुकुटके बनाये जानेपर) **नाश, उत्पाद और स्थितिकी जो अवस्थाएँ होती हैं, उनमें यह घटका अर्थीजन शोक (विषाद) को, मुकुटका अर्थी हर्षको और सुवर्णका अर्थी शोक तथा हर्षसे रहित मध्यस्थ-भावको प्राप्त होता है और यह सब सहेतुक होता है**—घटार्थीके शोकका कारण घटका नाश है, मुकुटार्थीके हर्षका कारण मुकुटका उत्पाद है और सुवर्णार्थीके मध्यस्थ-भावका कारण सुवर्णकी स्थिति है—जो सुवर्ण घटके रूपमें था वही मुकुटके रूपमें विद्यमान है, इससे उसके लिये शोक तथा हर्षका कोई कारण नहीं रहता। बिना हेतुके उन घट-मुकुट-सुवर्णार्थियोंके शोकादिकी उत्पत्ति नहीं बनती।'

(बौद्धोंका जो यह कहना है कि विषादादिके कोई हेतु नहीं होते; किन्तु पूर्वविषादादिके वासनामात्र-निमित्तसे विषादादिक उत्पन्न होते हैं, वह ठीक नहीं; क्योंकि पूर्वविषादादिके वासनामात्र निमित्तके होते हुए भी उन विषादादिके नियमका संभव नहीं।)

इस तरह लौकिक जनोंकी उत्पादादि-विषयक-प्रतीतिके भेदसे यह सिद्ध है कि वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ऐसे तीन

रूपमें व्यवस्थित है। अब एक दूसरे दृष्टान्त-द्वारा इस विषयको और स्पष्ट किया जाता है।

वस्तुतत्त्वकी त्रयात्मकता

पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥ ६० ॥

'**जिसके दुग्ध लेनेका व्रत है**—आज मैं दूध ही लूँगा ऐसी प्रतिज्ञा है—**वह दही नहीं खाता, जिसके दही लेनेका व्रत है वह दुग्ध नहीं पीता और जिसका गोरस न लेनेका व्रत है वह दूध-दही दोनों ही नहीं खाता। इससे मालूम होता है कि वस्तु-तत्त्व त्रयात्मक है**—युगपत् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप है।'

व्याख्या—एक ही वस्तुमें प्रतीतिका नानापन उस वस्तुके विनाश, उत्पाद और स्थिति (ध्रौव्य) का साधक ज्ञान पड़ता है—जो दूधरूपसे नाशको प्राप्त हो रहा है वही दधिरूपसे उत्पद्य-मान और गोरसरूपसे विद्यमान (ध्रौव्य) है; क्योंकि दूध और दही दोनों ही गोरसरूप हैं। गोरसकी एकताके होते हुए भी जो दधिरूप है वह दुग्धरूप नहीं; जो दुग्धरूप है वह दधिरूप नहीं; ऐसा व्रतियोंके द्वारा द्रव्य-पर्यायकी विभिन्न प्रतीति-वश भेद किया जाता है। यदि प्रतीतिमें त्रिरूपता न हो तो एकके ग्रहणमें दूसरे का त्याग नहीं बनता।

इस तरह वस्तुतत्त्वके त्रयात्मक साधन-द्वारा उसका प्रस्तुत नित्य-अनित्य और उभय-साधन भी विरोधको प्राप्त नहीं होता; क्योंकि एक ही वस्तुमें स्थिरताके व्यवस्थापन-द्वारा वह कथंचित् नित्य और नाशोत्पादके प्रतिष्ठापन-द्वारा कथंचित् अनित्य सिद्ध होता है और इसलिये यह ठीक कहा जाता है कि संपूर्ण वस्तु-समूह कथंचित् नित्य ही है, कथंचित् अनित्य ही है, कथंचित् उभय-

रूप ही है, कथंचित् अवक्तव्य ही है, कथंचित् नित्यावक्तव्य ही है, कथंचित् अनित्यावक्तव्य ही है और कथंचित् उभयावक्तव्य ही है। और इस सप्तभंगीकी व्यवस्थापनप्रक्रियाको उसी प्रकारसे नय-प्रमाणकी अपेक्षासे योजित करना चाहिये जिस प्रकार कि वह भावादि तथा एकादि सप्तभंगियोंकी व्यवस्थाके लिये की गई है।

इति देवागमाप्तमीमांसायां तृतीयः परिच्छेदः

चतुर्थ परिच्छेद

कार्य-कारणादिकी सर्वथा भिन्नताका एकान्त

कार्य-कारण-नानात्वं गुण-गुण्यन्यतापि च।
सामान्य-तद्वदन्यत्वं चैकान्तेन यदीष्यते ॥६१॥

'यदि (वैशेषिकमतावलम्बियोंके मतानुसार) **एकान्तसे—सर्वथा** रूपमें—**कार्य-कारणका भेद माना जाता है, गुण-गुणीको भिन्नता स्वीकार की जाती और सामान्य तथा सामान्यवान् जो द्रव्य-गुण-कर्मरूप त्रिक है उसका एक-दूसरेसे अन्यत्व इष्ट किया जाता है** (तो उसमें जो बाधा आती है उसे आगे बतलाया जाता है।)'

व्याख्या—यहाँ वैशैषिकमतानुसार 'कार्य' शब्दसे चलनादि क्रियारूप कर्मका, तन्तु आदि अवयवरूप कारणके अवयवीका, संयोगादिरूप अनित्य गुणका और प्रध्वंसाभावका ग्रहण है; 'कारण' शब्द समवायीका, समवायिवान्का (कर्मवान्का, अनित्यगुणवान्-का, पटादि अवयवोंका) और प्रध्वंसके प्रति कारणका वाचक है; 'गुण' शब्द नित्य-गुणका, 'गुणी' शब्द गुणके आश्रयभूत द्रव्यका,

'सामान्य' शब्द पर-अपर-जातिका और 'सामान्यवान्' शब्द द्रव्य-गुण-कर्मरूप अर्थका बोधक है। वैशेषिकमतका कथन है कि क्रिया-तत्क्रियावान्का; समवाय-समवायीका, अवयव-अवयवीका, गुण-गुणीका, विशेषण-तद्विशेष्यका, सामान्य-तत्सामान्यवान्-का और अभाव-तद्विशेष्यका एक-दूसरेसे सर्वथा भिन्नपना ही है; क्योंकि उनका भिन्न प्रतिभास होता है, सह्याचल विन्ध्याचलकी तरह—

अपने इस 'भिन्नप्रतिभासत्व' हेतुको असिद्ध-विरुद्धादि दोषोंसे रहित सिद्ध करनेका प्रयत्न किया गया है और उस प्रयत्नमें एक बात यह भी कही गई है कि कार्य-कारणादिका लक्षण एक-दूसरेसे भिन्न है और वह भिन्न-लक्षण भिन्न प्रतिभास-का हेतु है, वस्तु यदि एक है तो उसका भिन्न-लक्षणसे प्रतिभास नहीं होता। इससे भिन्न-प्रतिभास हेतु विरुद्ध नहीं है; क्योंकि भिन्नलक्षणलक्षित विपक्षमें उसकी वृत्तिका अभाव है। दूसरी बात यह भी कही गई है कि जिनका ऐसा अनुमान है कि कार्य-कारणका, गुण-गुणीका तथा सामान्य-सामान्यवान्का एक-दूसरेके साथ तादात्म्य है—अभेद है; क्योंकि उनका देश (क्षेत्र) अभिन्न है। जिनका तादात्म्य नहीं होता उनका देश अभिन्न नहीं होता, जैसे कि सह्याचल और विन्ध्याचल का। प्रकृत कार्य-कार-णादिका देश अभिन्न है अतः उनका तादात्म्य है; और इस अनु-मानसे वे कार्य-कारणादिकी भिन्नताके एकान्तको बाधित ठहराते हैं, वह ठीक नहीं है; क्योंकि देशाऽभेद दो प्रकारका है—एक शास्त्रीय और दूसरा लौकिक। कार्य-कारणादिका शास्त्रीय देशाऽ-भेद असिद्ध है—शास्त्रकी अपेक्षासे पटादिरूप कार्यका स्वकीय कारण तन्तुसमूह और तन्तुओंका कारण कपासादि इस तरह सबका

स्व-अन्य-कारणदेशकी दृष्टिसे देशभेद ही है । लौकिक देशाऽभेदका आकाश-आत्मादिके साथ व्यभिचारदोष घटित होता है; क्योंकि लौकिक देशकी अपेक्षा आकाश और आत्मादिके भिन्न-देशका अभाव होने पर भी उनका तादात्म्य नहीं है ।

उक्त भिन्नतैकान्तमें दोष

एकस्याऽनेक-वृत्तिर्न भागाऽभावाद्बहूनि वा ।
भागित्वाद्वाऽस्य नैकत्वं दोषो वृत्तेरनार्हते ॥६२॥

'(यदि वैशेषिकमतानुसार कार्य-कारण, गुण-गुणी और सामान्य-सामान्यवान्‌को सर्वथा एक दूसरेसे भिन्न माना जाय तो) **एकको**—पटादि अवयवीरूप कार्य-द्रव्यादिकी—(अपने आरम्भक तन्तु आदि) **अनेकोंमें**—कारणादिकमें—**वृत्ति**—प्रवृत्ति **नहीं बनती; क्योंकि उस एकके विभागके अभावसे निरंशपना माना गया है**—जबकि वृत्ति होनी चाहिये; अन्यथा कार्य-कारणभावादिका विरोध उसी तरह घटित होगा जिस तरह अकार्य-कारणरूप तन्तु-घटका और मृत्पिण्ड-पटका कार्य-कारणभाव विरुद्ध होता है । **यदि** (अवयवी आदि) **एकको भागित्वरूप आश्रित करके वृत्ति मानी जाय तो इससे एकका एकत्व स्थिर नहीं रहता**—वह विभक्त होकर बहुरूपमें परिणत हो जाता है । इसके सिवाय यह प्रश्न पैदा होता है कि एककी अनेकमें वह वृत्ति तन्तु आदिके लक्षण आधारके प्रति एकदेशरूपसे होती है या सर्वात्मक रूपसे ? एक देशरूपसे वह नहीं बनती; क्योंकि एक पटादि कार्य द्रव्यके निष्प्रदेश होनेसे तन्तु आदि अनेक अधिकरणोंमें उसका वर्तना नहीं बनता और प्रत्येकमें सर्वात्मकरूपसे वृत्तिके होने पर एक अवयवी आदिके बहुत्वका प्रसंग उपस्थित होता है—जितने अवयव उतने ही अवयवी ठहरते हैं, जितने संयोगी आदि गुणी उतने ही अनेक अवयवोंमें स्थित

संयोगादि गुण ठहरते हैं और जितने सामान्यवान् अर्थ उतने ही सामान्य होने चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं है। **अतः एककी अनेकमें सर्वात्मक अथवा सर्वदेश वृत्ति माननेसे, आर्हन्मतसे भिन्न जो सर्वथा एकान्तमत है उसमें दोष आता है।** इस तरह एककी अनेकमें प्रवृत्तिका मानना और न मानना दोनों ही सदोष ठहरते हैं। एकदेशरूप और सर्वात्मक वृत्तिसे भिन्न वृत्तिका अन्य कोई प्रकार नहीं है।'

(यदि वैशेषिकमतकी मान्यतानुसार समवाय-सम्बन्धको प्रकारान्तर माना जाय—यह कहा जाय कि समवाय-सम्बन्धके कारण अवयवी आदि अवयवादिकमें वर्तता है, बिना समवाय-सम्बन्धके वर्तनके अर्थका अभाव है तो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि यहाँ भी वही प्रश्न पैदा होता है कि अवयवी आदिकी अवयवादिकमें वह समवायवृत्ति एकदेश है अथवा सर्वात्मक ? और दोनोंमें से किसी भी प्रकारकी समवायवृत्तिको मानने पर वही दोष घटित होता है, जिसे ऊपर बतलाया गया है।)

देश-काल-विशेषेऽपि स्याद्वृत्तिर्युत-सिद्धवत् ।
समान-देशता न स्यान्मूर्तकारण-कार्ययोः ॥६३॥

'(यदि अवयवादि और अवयवी आदिमें सर्वथा भेद स्वीकार किया जाय तो) **देश और कालकी अपेक्षासे भी उनमें**—अवयवादि और अवयवी आदिमें—**भेद मानना पड़ेगा और तब युत-सिद्धके समान**—पृथक्-पृथक् आश्रयमें रहने वाले घट-वृक्षकी तरह—**उनमें भी वृत्ति** (समवाय-सम्बन्धकी वर्तना) **माननी होगी।** (फलतः) **मूर्तिक कारण और कार्यमें जो समान (अभिन्न) देशता**—एककाल-देशता—**देखी जाती है वह नहीं बन सकेगी।**'

व्याख्या—अवयवादि और अवयवीआदिमें सर्वथा भेद मानने

पर उनमें देशभेद और कालभेद भी मानना पड़ेगा और उनका सम्बन्ध युत-सिद्धों जैसा होगा; तब उनमें अभिन्नदेशता कैसे बन सकती है ? यह बात वैशेषिकोंको सोचनेकी है ।

यद्यपि आत्मा और आकाशमें अत्यन्त भेद होने पर भी उनमें न देशभेद है और न कालभेद है और इसलिये यह अत्यन्तभेद कार्य-कारणके देश और कालके भेदका नियामक नहीं है, तथापि सत्, द्रव्यत्व आदि रूपसे आत्मा और आकाशमें भी अत्यन्तभेद असिद्ध है । अत एव उनके अभिन्नदेश और अभिन्न-कालके होनेमें कोई बाधा नहीं है ।

आश्रयाऽऽश्रयि-भावान्न स्वातन्त्र्यं समवायिनाम् ।
इत्ययुक्तः स सम्बन्धो न युक्तः समवायिभिः ॥६४॥

'**यदि ऐसा कहा जाय कि समवायियोंमें**—अवयव-अवयवी (तन्तु-पट) आदिमें—(समवायके द्वारा) **आश्रयाऽऽश्रयीभाव होनेके कारण स्वतन्त्रता नहीं है, जिससे देश व कालको अपेक्षा भेद होनेपर भी वृत्ति** (समवाय-सम्बन्ध-वर्तना) **बनती, तो यह कहना ठीक नहीं है** । (क्योंकि तब यह प्रश्न उठता है कि वह समवाय समवायिओंमें स्वतः वर्तता—सम्बन्धित होता है या अन्य समवायसे वर्तित—सम्बन्धित होता है । यदि स्वतः सम्बन्धित होता है तो फिर अवयवी भी अपने अवयवोंमें स्वतः सम्बद्ध हो जायगा, उसके लिये एक अलग समवायकी व्यर्थ-कल्पनासे क्या नतीजा ? यदि अन्य समवायसे वह सम्बन्धित होता है तो वह अन्य समवाय भी अन्य तृतीयसे और तृतीय भी अन्य चतुर्थसे सम्बन्धित मानना पड़ेगा और इस तरह अनेक समवायोंकी कल्पना करनेपर एक समवायकी मान्यता बाधित ठहरेगी और अनवस्थादोषका प्रसंग भी उपस्थित होगा ।)

(यदि यह कहा जाय कि समवाय अनाश्रित होनेसे सम्बन्धान्तरकी अपेक्षा नहीं रखता, किन्तु असम्बद्ध ही रहता है तो यह कहना उचित नहीं; क्योंकि) **जो स्वयं असम्बद्ध** (सम्बन्ध रहित) **है वह एक** (अवयवी) **का दूसरे** (अवयवों) **के साथ सम्बन्ध कैसे करा सकता है** ? सम्बन्धरहित होनेकी हालतमें वह दूसरे (द्रव्यादि) के साथ कैसे रह सकता है ? नहीं रह सकता ।'

सामान्यं समवायश्चाऽप्येकैकत्र समाप्तितः ।
अन्तरेणाऽऽश्रयं न स्यान्नाशोत्पादिषु को विधिः ॥६५॥

'जिस प्रकार सामान्य आश्रयके बिना नहीं रहता, उसी प्रकार समवाय भी आश्रयके बिना नहीं रहता । जब सामान्य और समवाय दोनोंकी प्रत्येक द्रव्यादि नित्य व्यक्तियोंमें समाप्ति–पूर्णता होती है तब नाश हुए तथा उत्पन्न हुए अनित्य कार्योंमें उनके सद्भावकी विधि-व्यवस्था कैसे बन सकती है ?—नहीं बन सकती ।'

व्याख्या—जहाँ एक व्यक्तिका उत्पाद हुआ वहाँ पहलेसे न सामान्य है और न समवाय; क्योंकि उनका वहाँ कोई आश्रय नहीं है और ये दोनों बिना आश्रयके नहीं रहते । अन्यथा अनाश्रित होनेका प्रसंग आयेगा । यह भी संभव नहीं कि वे अन्य व्यक्तिसे पूर्णरूपमें या अंशरूपमें आते हैं; क्योंकि पूर्वाधारका अभाव तथा सामान्य एवं समवायमें सांश पनेका प्रसंग आवेगा । स्वयं पीछे उनका उत्पाद भी संभव नहीं है, अन्यथा वे अनित्य माने जायेंगे । आश्रयके नाश होनेपर भी उनका नाश नहीं होता; क्योंकि वे नित्य हैं और आश्चर्य यह कि प्रत्येकमें पूर्ण रूपसे रहते हैं । सारांश यह कि सामान्य और समवाय इन दोनों पदार्थोंका नित्य व्यक्तियोंमें सत्व सिद्ध होने पर भी अनित्य

व्यक्तियोंमें उनका सद्भाव सिद्ध नहीं होता; जबकि वैशेषिक इन दोनोंको नित्य, व्यापक और एक एवं प्रत्येकमें पूर्णरूपसे व्याप्त मानते हैं, जो स्पष्टतः युक्ति और प्रतीतिके विरुद्ध है।

सर्वथाऽनभिसम्बन्धः सामान्य-समवाययोः ।
ताभ्यामर्थो न सम्बद्धस्तानि त्रीणि ख-पुष्पवत् ॥६६॥

'(वैशेषिक मतानुसार) **जब सामान्य और समवाय दोनोंके सर्वथा अनभिसम्बन्ध हैं**—परस्परमें एकका दूसरेके साथ संयोगादि-रूप कोई प्रकारका भी सम्बन्ध नहीं है—**तब उन दोनोंके साथ द्रव्य, गुण और कर्मरूप जो अर्थ है उसका भी सम्बन्ध नहीं रहता**। (और इसलिये) **सामान्य, समवाय तथा अर्थ ये तीनों ही आकाश-पुष्पके समान अवस्तु ठहरते हैं**। क्योंकि असत्का और अवस्तुका कूर्म-रोमादिकी तरह कोई भी स्वरूप नहीं बन सकता।'

अनन्यता—एकान्तकी सदोषता

अनन्यतैकान्तेऽणूनां संघातेऽपि विभागवत् ।
असंहतत्वं स्याद्भूतचतुष्क-भ्रान्तिरेव सा ॥६७॥

'**यदि** (बौद्ध-मतानुसार) **परमाणुओंकी अनन्यताका**—सर्व अवस्थाओंमें स्वरूपान्तरपरिणमनरूप अन्यताके अभावका—**एकान्त माना जाय तो स्कन्धरूपमें उनके मिलनेपर भी न मिलने-की भ्रान्तिमें परस्पर असम्बद्धता रहेगी और ऐसा होने पर बौद्धोंके द्वारा प्रतिपादित जो भूतचतुष्क है**—परमाणुओंका पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ऐसे चार स्कन्धोंके रूपमें जो कार्य हैं—**वह** (वास्तविक न होकर) **भ्रान्तरूप ही ठहरेगा**। (यदि भूत-चतुष्टयको भ्रान्तिरूप न माना जायगा तो परमाणुओंका संघाता-वस्थामें स्वरूपान्तर मानना होगा और वैसा मानने पर सर्वथा अनन्यताका एकान्त नहीं बन सकेगा।)'

कार्यकी भ्रान्तिसे कारणकी भ्रान्ति तथा उभयाभावादिक

कार्य-भ्रान्तेरणु-भ्रान्तिः कार्य-लिङ्गं हि कारणम् ।
उभयाऽभावतस्तत्स्थं गुण-जातीतरच्च न ॥ ६८ ॥

'**भूतचतुष्करूप-कार्यके भ्रान्तिरूप होनेसे तत्कारण परमाणु भी भ्रान्तिरूप ठहरेंगे—तब वस्तुतः उनकी** अस्तित्व-सिद्धि ही नहीं बन सकेगी ; **क्योंकि कारण कार्य-लिङ्गक होता है**—कार्यसे ही उसे जाना जाता अथवा अनुमान किया जाता है। **कार्य-कारण दोनोंके भ्रान्तिरूप अभावसे उनमें रहनेवाले गुण-जाति-क्रियादिक भी नहीं बन सकेंगे**—जैसे गगनकुसुमोंके अभावमें उनकी कोई गन्ध भी नहीं बन सकती।'

कार्य-कारणादिका एकत्व माननेपर दोष

एकत्वेऽन्यतराभावः शेषाऽभावोऽविनाभुवः ।
द्वित्व-संख्या-विरोधश्च संवृतिश्चेन्मृषैव सा ॥६९॥

'**यदि** (सांख्यमतानुसार) **कार्य-कारणादिका सर्वथा एकत्व माना जाय**—कार्य जो महत् आदि और कारण जो प्रधान दोनोंका तादात्म्य अंगीकार किया जाय—**तो एकको मान्यतापर दूसरेका अभाव ठहरेगा**—प्रधानरूप कारणकी मान्यतापर महत् आदिरूप कार्यकी पृथक् कोई मान्यता नहीं बन सकेगी, दोनोंके सर्वथा एक होनेसे। साथ ही कार्यके अभावपर शेष जो कारण उसका भी अभाव ठहरेगा; क्योंकि कार्यका कारणके साथ अविनाभाव-सम्बन्ध है, कारण कार्यकी अपेक्षा रखता है, सर्वथा कार्यका अभाव होनेपर कारणत्व बन नहीं सकता और इस तरह सर्वके अभावका प्रसंग उपस्थित होता है। इसके सिवाय, (यदि यह कहा जाय कि महत् आदि कार्यका प्रधानरूप-कारणमें

अनुप्रवेश हो जानेसे उत्तर-सृष्टिक्रमकी अपेक्षा पृथक्सत्तारूप भेदका अभाव होनेपर भी कारण तो एक रहता ही है—नित्य होनेसे उसका अभाव नहीं होता, तो) दोकी संख्याका विरोध उपस्थित होता है—कार्य और कारण सर्वथा एक होनेपर यह कार्य है और यह कारण है ऐसे दोकी संख्याका निर्देश नहीं बन सकता; जैसे कि वस्तुके सर्वथा एक होनेपर उसमें कार्य-कारण-भाव नहीं बनता।

यदि द्वित्व-संख्याको संवृतिरूप कल्पित अथवा औपचारिक ही माना जाय तो यह संवृति (परमार्थके विपरीत होनेसे) जब मृषा ही है तब द्वित्व-संख्या भी मृषा ही ठहरती है—ऐसी स्थितिमें प्रधानकी जानकारी तब कैसे हो सकेगी ? प्रत्यक्षसे वह हो नहीं सकती; क्योंकि प्रधान प्रत्यक्षका विषय नहीं। अनुमानसे भी नहीं हो सकती; क्योंकि अभ्रान्तलिङ्गका अभाव है। आगमसे भी नहीं बन सकती; क्योंकि शब्दके भी भ्रान्तत्व माना गया है; और भ्रान्तलिङ्गसे अभ्रान्त साध्यकी सिद्धि होती नहीं, सिद्धि मानने पर अतिप्रसंग-दोष उपस्थित होता है।'

(इसी प्रकार पुरुष और चैतन्य जो आश्रय-आश्रयीरूप हैं उनकी एकता माननेपर एक दूसरेका अभाव ठहरता है; पुरुषमें चैतन्यके अनुप्रवेशपर पुरुषमात्रका और चैतन्यमें पुरुषके अनुप्रवेश-पर चैतन्यमात्रका प्रसंग उपस्थित होता है और इससे सांख्यमता-नुयायिओंके यहाँ सर्वथा एकत्वकी मान्यतापर पुरुष और चैतन्य इन दोमेंसे किसी एकका अभाव सिद्ध होता है। दोमेंसे एकका अभाव होनेपर शेषका भी अभाव ठहरता है; क्योंकि दोनोंमें परस्पर अविनाभाव-सम्बन्ध है। पुरुष आश्रय है और चैतन्य-स्वभाव उसका आश्रयी है—आश्रयके बिना आश्रयीका और

आश्रयीके बिना आश्रयका कोई अस्तित्व नहीं बनता। दोनोंके सर्वथा एक होनेपर द्वित्व-संख्या भी नहीं बनती और द्वित्वसंख्यामें संवृतिकी कल्पना करनेपर शून्यताका प्रसंग आता है; क्योंकि परमार्थतः द्वित्वसंख्याके अभावपर संख्येय जो पुरुष और चैतन्य उनकी भी कोई व्यवस्था नहीं बननी—ऐसी कोई वस्तु ही सम्भव नहीं जो सकलधर्मोंसे शून्य हो। अतः सांख्योंका यह कार्य-कारणादिकी अनन्यताका एकान्त भी वैशेषिकोंके अन्यता एकान्तकी तरहसे नहीं बन सकता।'

उक्त उभय तथा अवक्तव्य एकान्तोंकी सदोषता

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वाद-न्याय-विद्विषाम्।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नाऽवाच्यमिति युज्यते ॥७०॥

'यदि कार्य-कारणादिकी अन्यता और अनन्यताके दोनों एकान्त एक साथ माने जाँय तो वे स्याद्वाद-न्यायके विद्वेषियोंके—सर्वथा एकान्तवादियोंके—यहाँ **युगपत् नहीं बन सकते; क्योंकि उनमें परस्पर विरोध होनेसे उनका एकात्म्य अथवा तादात्म्य असंभव है। यदि अवाच्यता** (अनभिलाप्यता) **का एकान्त** माना जाय—कार्य-कारणादिका भेद-अभेद सर्वथा अवाच्य है ऐसा कहा जाय—**तो यह कहना भी नहीं बन सकता; क्योंकि इस कहनेसे ही वह वाच्य** (अभिलाप्य) **हो जाता है। और जब यह कहना भी नहीं बन सकता तब अवाच्यतैकान्त-सिद्धान्तका परको प्रतिपादन कैसे बन सकता है? नहीं बन सकता।**

(यदि बौद्धोंके द्वारा यह कहा जाय कि परमार्थसे तो **वचनद्वारा किसी भी पदार्थ अथवा सिद्धान्तका प्रतिपादन नहीं बनता—संवृतिके द्वारा ही बनता है, तो संवृतिके स्वयं मिथ्या**

होनेसे उसके द्वारा सत्यसिद्धान्तादिका प्रतिपादन कैसे बन सकता है ? नहीं बन सकता। अतः संवृतिरूप-वचनके द्वारा प्रतिपादन करनेपर भी अवाच्यताका एकान्त स्थिर नहीं रह सकता।)

एकता और अनैकताकी निर्दोष व्यवस्था

द्रव्य-पर्याययोरैक्यं तयोरव्यतिरेकतः।
परिणाम-विशेषाच्च शक्तिमच्छक्ति-भावतः ॥७१॥
संज्ञा-संख्या-विशेषाच्च स्वलक्षण-विशेषतः।
प्रयोजनादिभेदाच्च तन्नानात्वं न सर्वथा ॥७२॥

'द्रव्य और पर्याय दोनों (कथंचित्) एक हैं; **क्योंकि इनके** (प्रतिभासका भेद होनेपर भी) **अव्यतिरेकपना** है—अशक्य-विवेचन होनेसे सर्वथा भिन्नताका अभाव है। **तथा द्रव्य और पर्याय** (कथंचित्) **नानारूप हैं**—एक दूसरेसे भिन्न हैं; **क्योंकि दोनोंमें परिणामका भेद है, शक्तिमान-शक्तिभावका भेद है, संज्ञा (नाम)-का भेद है, संख्याका भेद है, स्वलक्षणका भेद है और प्रयोजनका तथा आदि शब्दसे काल एवं प्रतिभासका भेद है**। इससे द्रव्य और पर्याय दोनों सर्वथा एकरूप नहीं और न सर्वथा नानारूप ही हैं—दोनोंमें कथंचित् भेदाऽभेदरूप अनेकान्तत्व प्रतिष्ठित है।'

व्याख्या—यहाँ 'द्रव्य' शब्दसे गुणी, सामान्य तथा उपादान-कारणका और 'पर्याय' शब्दसे गुण, व्यक्ति-विशेष तथा कार्य-द्रव्यका ग्रहण है। 'अव्यतिरेक' शब्द अशक्य-विवेचनका वाचक है, जिसका अभिप्राय यह है कि एक द्रव्यको अन्य द्रव्यरूप तथा एक द्रव्यकी पर्यायको अन्य-द्रव्यकी पर्यायरूप नहीं किया जा सकता अथवा विवक्षित द्रव्यको उसकी पर्यायसे और विवक्षित पर्यायको उसके द्रव्यसे सर्वथा अलग नहीं किया जा सकता।

इस तरह द्रव्य और पर्याय दोनों एक वस्तु हैं; जैसे वेद्य और वेदकका ज्ञान, जिसे प्रतिभासका भेद होनेपर भी सर्वथा भेदरूप नहीं किया जा सकता।

यदि ब्रह्माद्वैतवादियोंकी मान्यतानुसार पर्यायको अवास्तव और द्रयक्को वास्तव बतलाकर पर्यायका तथा बौद्धोंकी मात्यतानुसार द्रव्यको अवास्तव और पर्यायको वास्तव बतलाकर द्रव्यका अभाव माना जाय तो द्रव्य-पर्याय दोनोंमेंसे किसीका भी सद्भाव नहीं बन सकेगा—अर्थक्रिया-लक्षण-वस्तुमें पदार्थकी तब कोई उपपत्ति अथवा व्यवस्था ही नहीं बन सकेगी; क्योंकि पर्यायनिरपेक्ष केवल द्रव्य और द्रव्यनिरपेक्ष केवल पर्याय अर्थ-क्रियाका निमित्त नहीं होता, निमित्त माननेपर क्रम-यौगपद्यका विरोध उपस्थित होगा—सर्वथा एकस्वभावरूप द्रव्य या पर्यायके क्रम-यौगपद्य घटित नहीं होता, क्रमयौगपद्यके घटित न होनेपर अर्थ-क्रिया नहीं बनती और अर्थ-क्रियाके न बननेपर वस्तुका अस्तित्व न रहकर अभाव ठहरता है। अतः द्रव्य और पर्याय दोनोंमेंसे किसीका भी लोप करनेपर दूसरेका भी लोप उपस्थित होता है और वस्तुतत्त्वकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकेगी।

द्रव्यका लक्षण गुण-पर्यायवान् है; जैसा कि 'गुण-पर्ययवद् द्रव्यम्' इस तत्त्वार्थसूत्रसे जाना जाता है, जिसमें गुण सहभावी (युगपत्) और पर्याय क्रमभावी होते हैं। पर्यायका लक्षण 'तद्भावः परिणामः' सूत्रके अनुसार तद्भाव—उस उस प्रतिविशिष्टरूपसे होना—है, जो कि क्रमाऽक्रमरूपमें होता है। क्रमशः परिणमनको 'पर्याय' और अक्रम (युगपत्) परिणमनको 'गुण' कहते हैं। द्रव्य और पर्याय दोनोंकी यह लक्षण-भिन्नता दोनोंके कथंचित् नानापनको सिद्ध करती है।

इस तरह द्रव्य और पर्यायमें कथंचित् नानापना ही है, स्व-लक्षणके भेदसे; कथंचित् एकपना ही है, अशक्य-विवेचनके कारण; कथंचित् उभयपना ही है, दोनोंकी क्रमार्पित-विवक्षासे; कथंचित् अवक्तव्यपना है, दोनोंके सहार्पणकी दृष्टिसे। शेष तीन भंगोंको भी इसी प्रकारसे घटित कर लेना चाहिये।

इति देवागमाप्त-मीमांसायां चतुर्थः परिच्छेदः।

पंचम परिच्छेद

सिद्धिके आपेक्षिक-अनापेक्षिक एकान्तोंकी सदोषता

यद्यापेक्षिक-सिद्धिः स्यान्न द्वयं व्यवतिष्ठते।
अनापेक्षिक-सिद्धौ च न सामान्य-विशेषता ॥७३॥

'**यदि सिद्धिको**—धर्म-धर्मी, कार्य-कारणादिरूप पदार्थोंकी सिद्धि–निश्चितिको—(एकान्ततः) **आपेक्षिकी**—सर्वथा एक दूसरेकी अपेक्षा रखनेवाली—**माना जाय तो आपेक्ष्य और आपेक्षिक दोनोंमेंसे किसीकी भी अवस्थिति नहीं बनती**—किसी भी एकका निश्चय न होकर दोनोंका अभाव ठहरता है। **और सिद्धिको** (सर्वथा) **अनापेक्षिकी**—किसीकी भी अपेक्षा न रखनेवाली—**माननेपर सामान्य-विशेषभाव नहीं बनता**—क्योंकि अन्वय अथवा अभेदरूप जो सामान्य और व्यतिरेक अथवा भेदरूप जो विशेष दोनों अन्योऽन्याऽपेक्ष हैं—उनकी सिद्धि एक दूसरेकी अपेक्षाको लिये हुए है, पारस्परिक अपेक्षाके बिना व्यवस्थित

नहीं होते अर्थात् अभेद बिना भेदके और भेद बिना अभेदके व्यवहृत नहीं बनता है।'

व्याख्या—(इस कारिकाके पूर्वार्धमें बौद्धोंकी मान्यता और उसकी सदोषताका, तथा उत्तरार्द्धमें यौगोंकी मान्यता और उसकी सदोषताका उल्लेख है। बौद्धोंकी यह मान्यता है कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञानमें दूर-निकटादिकी तरह धर्म-धर्मी आदि किसीका भी प्रतिभास नहीं होता, तत्पृष्ठ-भावी विकल्प-बुद्धिके द्वारा विशेषण-विशेष्यत्व, सामान्य-विशेषणत्व, गुण-गुणित्व, क्रिया-क्रियावत्व, कार्य-कारणत्व, साध्य-साधनत्व, ग्राह्य-ग्राहकत्व ये सब भेद उपकल्पित हैं और इसलिये पारमार्थिक न होकर सर्वक्षा आपेक्षिक हैं — वस्तुतः इनमें कोई भी व्यवस्थित नहीं होता। इस तरहकी आपेक्षिकी सिद्धि माननेपर नील-स्वलक्षण और नील-ज्ञान ये दोनों भी व्यवस्थित नहीं होते; क्योंकि दोनों विशेषण-विशेष्यकी तरह आपेक्षिक हैं। जिनकी सर्वथा आपेक्षिक-सिद्धि होती है उनकी कोई व्यवस्था नहीं है, जैसे परस्पर एक दूसरेको पकड़े हुए नदीमें डूबनेवाले दो मनुष्योंकी कोई व्यवस्था नहीं बनती—(दोनों ही डूबते हैं।) वैसे ही नील और नील-ज्ञानमें सर्वथा अपेक्षाकृत-सिद्धिकी बात है—नीलज्ञानके विना नील सिद्ध नहीं होता, अज्ञेयत्वका प्रसंग आनेसे और तथा-संवेदन-निष्ठ होनेसे, और नीलकी अपेक्षाके विना नीलज्ञान सिद्ध नहीं होता; क्योंकि नीलज्ञानके नीलसे आत्मलाभ बनता है, अन्यथा नीलज्ञानके निर्विषयत्वका प्रसंग आता है और बौद्धोंने ज्ञानको निर्विषय माना नहीं। इस तरह एकके अभावमें दूसरेका भी अभाव होनेसे नील और नीलज्ञान दोनोंका ही अभाव ठहरता

है। जब ज्ञान और ज्ञेय दोनों ही न रहे तब सर्व-शून्यताका प्रसंग उपस्थित होता है।

आपेक्षिक-सिद्धिके एकान्तमें दोष देखकर यदि यौग-मतवादी यह कहे कि 'धर्म-धर्मीकी सर्वथा आपेक्षिक-सिद्धि नहीं किन्तु अनापेक्षिक-सिद्धि है; क्योंकि धर्म-धर्मीके प्रतिनियत-बुद्धिका विषयपना है, नीलादिके स्वरूपकी तरह। सर्वथा अनापेक्षिकत्वका अभाव होनेपर प्रतिनियत-बुद्धिका विषयपना नहीं बनता, तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि सर्वथा अनपेक्षा-पक्षमें भी अन्वय-व्यतिरेक घटित नहीं होते। अन्वय सामान्यको ओर व्यतिरेक विशेषको कहते हैं, दोनों परस्पर अपेक्षाके रूपमें ही तिष्ठते हैं, दोनोंकी सर्वथा अनापेक्षिक-सिद्धि माननेपर न सामान्य स्थिर रहता है और न विशेष। प्रतिनियतबुद्धि-विषयोंमें भी प्रतिनियत-पदार्थता सापेक्षरूपमें होती है, नील-पीतकी तरह। नील और पीतकी अनापेक्षिक-सिद्धि माननेपर यह नील है, यह पीत है ऐसा निश्चय नहीं बनता।

उक्त उभय तथा अवक्तव्य एकान्तोंकी सदोषता

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वाद-न्याय-विद्विषाम्।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नाऽवाच्यमिति युज्यते ॥७४॥

'यदि आपेक्षिक-सिद्धि और अनापेक्षिक-सिद्धि दोनोंका एकान्त माना जाय तो वह स्याद्वादन्यायसे द्वेष रखनेवालोंके—उस न्यायका आश्रय न लेनेवाले सर्वथा एकान्तवादियोंके—**यहाँ नहीं बनता; क्योंकि दोनों एकान्तोंमें परस्पर विरोध है**—उनकी युगपत् विवक्षा सदसत् (भावाऽभाव) एकान्तकी तरह नहीं बनती। **यदि** (विरोधके भयादिसे) **अवाच्यताका एकान्त**

माना जाय—सिद्धिको सर्वथा अवाच्य कहा जाय—तो यह **अवाच्य कहना भी नहीं बनता; क्योंकि इस कथनसे ही वह कथंचित् वाच्य हो जाती है, और उससे सर्वथा अवाच्यताका सिद्धान्त बाधित ठहरता है ।'**

उक्त आपेक्षिकादि एकान्तोंकी निर्दोष-व्यवस्था

धर्म-धर्म्यविनाभावः सिद्धत्यन्योऽन्य-वीक्षया ।
न स्वरूपं स्वतो ह्येतत् कारक-ज्ञापकाऽङ्गवत् ॥७५॥

'**धर्म और धर्मीका अविनाभाव-सम्बन्ध ही एक दूसरेकी अपेक्षासे सिद्ध होता है न कि स्वरूप**—स्वरूप तो अपने कारण-कलापसे धर्म-धर्मीकी विवक्षासे पूर्व ही सिद्धत्वको प्राप्त है; **क्योंकि वह स्वतः सिद्ध है, कारक और ज्ञापकके अंगोंकी तरह**—जैसे कारकके दो अंग (अवयव) कर्ता-कर्म और ज्ञापकके दो अंग बोध्य-बोधक (वेद्य-वेदक अथवा प्रमेय-प्रमाण) ये अपने अपने स्वरूप-विषयमें दूसरे अंगकी (कर्ता कर्मकी और कर्म कर्ताकी बोध्य बोधककी, बोधक बोध्यकी) अपेक्षा नहीं रखते—अन्यथा अपेक्षा-द्वारा एकके स्वरूपको दूसरेके आश्रित माननेपर दोनोंके ही अभावका प्रसंग उपस्थित होता है । परन्तु कर्ता-कर्मका और ज्ञाप्य-ज्ञापकका व्यवहार परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षाके बिना नहीं बनता—व्यवहारके लिये पारस्परिक अपेक्षा आवश्यक है—स्वरूपके लिये नहीं ।'

इस तरह धर्म-धर्मिभूत सकल पदार्थोंकी कथंचित् आपेक्षिकी सिद्धि है—अविनाभावरूप व्यवहारकी दृष्टिसे; कथंचित् अनापेक्षिकी सिद्धि है—पूर्व प्रसिद्ध स्वरूपकी दृष्टिसे; कथंचित् उभयी सिद्धि है—अपेक्षा–अनपेक्षारूप दोनों धर्मोंके क्रमार्पितकी

दृष्टिसे; कथंचित् अवक्तव्या सिद्धि है—उक्त दोनों धर्मोंके सहार्पित (युगपतकथन) की दृष्टिसे। शेष 'आपेक्षिकी' और 'अवक्तव्या' आदि भंगोंको भी इसी प्रकार घटित करके यहां भी सप्तभंगी-प्रक्रियाकी योजना कर लेनी चाहिये, जो कि नयविशेषकी दृष्टिसे पूर्ववत् अविरुद्ध है।

इति देवागमाप्त-मीमांसायां पंचमः परिच्छेदः।

षष्ठ परिच्छेद

सर्वथा हेतुसिद्ध तथा आगमसिद्ध एकान्तोंकी सदोषता

सिद्धं चेद्धेतुतः सर्वं न प्रत्यक्षादितो गतिः।
सिद्धं चेदागमात्सर्वं विरुद्धार्थ-मतान्यपि ॥७६॥

'**यदि** (केवल अनुमानवादी बौद्धोंके मतानुसार) **सब कुछ** (एकान्ततः) **हेतुसे ही सिद्ध माना जाय**—हेतुके बिना किसी भी कार्य-कारणादिरूप तत्त्वकी सिद्धि—निश्चितिको अंगीकार न किया जाय—**तो प्रत्यक्षादिसे फिर कोई गति**—सिद्धि, व्यवस्थिति अथवा ज्ञानकी प्राप्ति—**नहीं बन सकेगी** (और ऐसा होनेपर हेतु-मूलक अनुमानज्ञान भी नहीं बन सकेगा; क्योंकि अनुमानके लिये धर्मीका साधनका तथा उदाहरणका प्रत्यक्षज्ञान होना आवश्यक है, धर्म आदिके प्रत्यक्षज्ञानके बिना कोई अनुमान प्रवर्तित नहीं होता। अनुमान-ज्ञानके लिये अनुमानान्तरकी कल्पना करनेसे अनवस्था-दोष उपस्थित होता है और कहीं कोई भी अनुमान

नहीं बन पाता। और तब फिर परार्थानुमानरूप शास्त्रोपदेशका भी कोई प्रयोजन नहीं रहता—वह व्यर्थ ठहरता है; क्योंकि अभ्यस्त-विषयमें भी यदि प्रत्यक्षसे सिद्धि नहीं मानी जायगी तो फिर शब्द तथा लिङ्ग (हेतु) का भी ज्ञान नहीं बन सकेगा; और इस तरह स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान दोनों ही नहीं बन सकेंगे।)

यदि आगमसे ही सर्वतत्त्व-समूहकी सिद्धि मानी जाय तो ये परस्पर विरुद्ध अर्थका प्रतिपादन करनेवाले (युक्ति-निरपेक्ष) **मत भी सिद्धिको प्राप्त होंगे**—क्योंकि आगममात्रकी दृष्टिसे दोनोंके आगमोंमें कोई विशेष नहीं है और तत्त्वप्ररूपण एकका दूसरेके विरुद्ध है, दोनोंको आगमकी दृष्टिसे सिद्ध अथवा निश्चित-रूपसे ठीक माननेपर विरुद्धार्थके भी तत्त्वरूपसे सिद्धिका प्रसंग उपस्थित होगा और तब किसी तत्त्वकी भी कोई यथार्थ व्यवस्था नहीं बन सकेगी और न लोक-व्यवहार ही सुघटित हो सकेगा।'

उक्त उभय तथा अवक्तव्य एकान्तोंकी सदोषता

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वाद-न्याय-विद्विषाम्।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्ति र्नाऽवाच्यमिति युज्यते ॥७७॥

'**हेतु और आगम दोनों एकान्तोंका यदि एकात्म्य माना जाय तो वह भी नहीं बन सकेगा; क्योंकि दोनोंमें परस्पर विरोध है—सर्वथा विरुद्ध दो सिद्धान्तोंका एकत्र अवस्थान उनके सर्वथा असम्भव है जो स्याद्वाद-न्यायसे द्वेष रखते हैं**—और कथंचित् रूपसे हेतु तथा आगमकी मान्यताको स्वीकार नहीं करते। **यदि** (हेतु तथा आगम दोनों एकान्तों-द्वारा तत्त्वसिद्धिमें बिरोध-दोष देखकर) **अवाच्यताका एकान्त माना जाय तो तत्त्वसिद्धि निश्चयसे 'अवाच्य' है ऐसा कहना भी नहीं बन सकेगा**—ऐसा कहनेसे ही वह वाच्य हो जानेके कारण स्ववचन-विरोधका प्रसंग उपस्थित होता है।'

हेतु तथा आगमसे निर्दोषसिद्धिकी दृष्टि

वक्तर्यनाप्ते यद्धेतोः साध्यं तद्धेतु-साधितम् ।
आप्ते वक्तरि तद्वाक्यात्साध्यमागम-साधितम् ॥७८॥

'वक्ताके आप्त न होनेपर जो (तत्त्व) **हेतुसे साध्य होता है वह हेतु-साधित** (युक्तिसिद्ध) **कहा जाता है और वक्ताके आप्त होनेपर जो तत्त्व उस आप्तके वाक्यसे साध्य होता है उसे आगम-साधित** (शास्त्रसिद्ध) **समझना चाहिये ।'**

व्याख्या—यहाँ आप्त और अनाप्तके स्वरूपको मुख्यतासे ध्यानमें लेनेकी ज़रूरत है। आप्तका स्वरूप इस ग्रन्थके प्रारम्भ-को कुछ कारिकाओंमें विस्तारके साथ बतलाया जा चुका है, जिसका फलित-रूप इतना ही है कि जो वीतराग तथा सर्वज्ञ होनेसे युक्ति-शास्त्रके अविरोधरूप यथार्थ वस्तुतत्त्वका प्रतिपादक एवं अविसंवादक है वह आप्त है और जो आप्तके इस स्वरूपसे भिन्न अथवा विपरीतरूपको लिये हुए विसंवादक है वह आप्त नहीं—अनाप्त है। तत्त्वके प्रतिपादनका नाम अविसंवाद है, जो सम्यग्ज्ञानसे बनता है। जो तत्त्वका—यथार्थ वस्तुतत्त्वका—प्रतिपादन करता है वह अविसंवादक है और इसलिये उसका ज्ञान सम्यक् ज्ञान होना चाहिए, जो कि अबाधित-व्यवसायरूप होता है और जिसके प्रत्यक्ष (साक्षात्) तथा परोक्ष (असाक्षात्) ऐसे दो भेद हैं। संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय इन तीनों अज्ञानोंका नाश इस सम्यग्ज्ञानका फल है। ऐसी स्थितिमें उक्त-लक्षण-आप्तका वचन सिद्ध होनेपर आगमसिद्ध उसीप्रकारसे प्रमाण होता है जिस प्रकार कि हेतुसिद्ध ।

इति देवागमाप्त-मीमांसायां षष्ठः परिच्छेदः ।

सप्तम परिच्छेद

अन्तरंगार्थता-एकान्तकी बौद्ध-मान्यता सदोष

अन्तरंगार्थतैकान्ते बुद्धि-वाक्यं मृषाऽखिलम् ।
प्रमाणाभासमेवातस्तत् प्रमाणादृते कथम् ॥७९॥

'**यदि** (विज्ञानाद्वैतवादी बौद्धोंके मतानुसार) **अन्तरंगार्थताका एकान्त माना जाय**—अन्तरंग जो स्वसंविदित ज्ञान उसीके वस्तुता स्वीकार की जाय और बहिरंग जो प्रतिभासके अयोग्य जड़ है उसके वस्तुता न मानी जाय—**तो बुद्धिरूप अनुमान और वाक्यरूप आगम सब मिथ्या ठहरते हैं। जब मिथ्या ठहरते हैं तब वे प्रमाणाभास ही हुए**;—क्योंकि प्रमाण सत्यसे और प्रमाणाभास मिथ्या(मृषा)से व्याप्त होता है। **और प्रमाणाभासका व्यवहार बिना प्रमाणका अस्तित्व अंगीकार किये कैसे बन सकता है ?**—नहीं बन सकता। अतः अन्तरंगार्थताके एकान्तकी मान्यता दूषित है। उसे अनुमानादि किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं किया जा सकता; और जब सिद्ध नहीं किया जा सकता तो दूसरोंको उसकी प्रतीति भी नहीं कराई जा सकती।'

(जो ग्राह्य-ग्राहकाकाररूप है वह सब भ्रान्त है, ऐसी संवेदनाद्वैतकी मान्यतासे संवेदनाद्वैत भी भ्रान्त ठहरता है; क्योंकि स्वरूपका ज्ञान भी वेद्य-वेदक-लक्षणाका अभाव होनेपर घटित नहीं होता। सबके भ्रान्त होनेपर साध्य-साधनका ज्ञान भी सम्भव नहीं हो सकता। उसके सत्यरूपमें सम्भव होनेपर सर्वविभ्रमकी सिद्धि नहीं बनती।)

विज्ञप्ति-मात्रताके एकान्तमें साध्य-साधनादि नहीं बनते

साध्य-साधन-विज्ञप्तेर्यदि विज्ञप्ति-मात्रता ।
न साध्यं न च हेतुश्च प्रतिज्ञा-हेतु-दोषतः ॥८०॥

'**यदि साध्य और साधन** (हेतु) **की विज्ञप्ति** (ज्ञान) **के विज्ञप्तिमात्रता मानी जाय**—ज्ञानके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं ऐसा कहा जाय—**तो साध्य, हेतु और द्वितीय चकारसे दृष्टान्त ये तीनों नहीं बनते; क्योंकि ऐसा कहनेमें प्रतिज्ञादोष और हेतुदोष उपस्थित होता है**—प्रतिज्ञासे स्ववचन-विरोध आता है और हेतुप्रयोग असिद्धादि दोषोंसे दूषित ठहरता है ।'

व्याख्या—साध्य-युक्त पक्षके वचनको 'प्रतिज्ञा' और साधनके वचनको 'हेतु' कहते हैं। संवेदनाद्वैतवादी (बौद्ध) अपने संवेदना-तत्त्वको सिद्ध करनेके लिये कहते हैं कि नीला पदार्थ और नीले-का ज्ञान ये अभेद रूप हैं; क्योंकि इनकी एक साथ उपलब्धिका नियम है (सहोपलम्भ-नियमात्) । जैसे नेत्रविकारीके दो चन्द्रमा-का दर्शन होते हुए भी चन्द्रमा वास्तवमें एक ही है वैसे ही नीला पदार्थ और नीलज्ञान दो न होकर ज्ञानाद्वैतरूप एक ही वस्तु है। इस कथनमें प्रतिज्ञा-दोष जो घटित होता है वह स्ववचन-विरोध है; क्योंकि अपने द्वारा कहे हुए नीला-पदार्थरूप धर्म-धर्मीके भेदका और हेतु तथा दृष्टान्त दोनोंके भेदका अद्वैतके साथ विरोध है। सर्वथा अद्वैत-एकान्तकी मान्यतामें इनका कहना नहीं बनता और इसलिये साध्य-साधनादिके भेदरूप ज्ञानके अभेदरूप विज्ञानाद्वैतताका कथन करनेवालेके स्ववचन-विरोधरूप प्रतिज्ञा-दोष सुघटित होता है ।

हेतु-दोष यह घटित होता है कि उक्त हेतु नील और नील-

ज्ञानकी पृथक् उपलब्धिके अभावसे नील और नीलज्ञान-भेदके अभावको सिद्ध करता है, जो कि असिद्ध है; क्योंकि दोनों अभावों-में परस्पर सम्बन्ध सिद्ध नहीं है—सम्बन्धका अभाव उसी प्रकार है जिस प्रकार कि गधे और सींगमें सम्बन्धका अभाव है। जो हेतु साध्यके साथ अविनाभाव-सम्बन्ध न रखता हो वह साध्यको सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं होता और इसलिये असिद्धहेतु कहलाता है।

यदि यह कहा जाय कि 'जिस प्रकार अग्निके अभावसे धूम-का अभाव और व्यापक (वृक्ष) के अभावसे व्याप्य (शीशम)-का अभाव सिद्ध किया जाता है; उसी प्रकार नील और नील-ज्ञानकी पृथक् उपलब्धिके अभावसे दोनोंके भेदका अभाव सिद्ध किया जाता है, इसलिये हमारा हेतु असिद्ध नहीं है', तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि धूम और अग्निका कार्य-कारणभाव-सम्बन्ध सिद्ध होनेपर ही कारणके अभावमें कार्यका अभाव सिद्ध होता है तथा शीशम और वृक्षके व्याप्प-व्यापक-सम्बन्ध सिद्ध होनेपर ही व्यापकके अभावमें व्याप्यका अभाव सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं—अर्थात् कार्य-कारणका और व्याप्य-व्यापकका यदि पहलेसे अस्तित्व सिद्ध नहीं है तो कारणके अभावमें कार्यका और व्यापकके अभावमें व्याप्यका अभाव सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार भेद और पृथक् उपलब्धिका सम्बन्ध चूँकि विज्ञानाद्वैत-वादियोंके विरोधदोषके कारण सिद्ध नहीं बनता; जिससे पृथक् उपलब्धिका अभाव (सहोपलम्भ-नियमरूप) हेतु भेदाऽभावको सिद्ध करे इसलिये उनका उक्त पृथक् उपलब्धिका अभावरूप हेतु निश्चित नहीं—असिद्ध है।

बहिरंगार्थता—एकान्तकी सदोषता

बहिरङ्गार्थतैकान्ते　प्रमाणाभास-निह्नवात् ।
सर्वेषां कार्यसिद्धिः स्याद्विरुद्धार्थाऽभिधायिनाम ॥८१॥

'**यदि बहिरंगार्थताका एकान्त माना जाय**—ज्ञानको कोई परमार्थ वस्तु न मानकर बाह्य पदार्थको ही वस्तु माना जाय—**तो इससे प्रमाणाभासका**—संशयादिरूप मिथ्या ज्ञानका—**लोप होता है; और प्रमाणाभासके लोपसे सभी विरुद्ध अर्थका प्रतिपादन करनेवालोंके कार्य-सिद्धि ठहरेगी**—संवेदनाऽद्वैतवादी, ब्रह्माऽद्वैत-वादी आदि किसी भी एकान्तवादी अथवा प्रत्यक्षादिके सर्वथा विरुद्ध कथन करनेवालोंको तब मिथ्यादृष्टि या असत्यवादी नहीं कहा जा सकेगा, यह दोष आएगा।'

उक्त उभय तथा अवक्तव्य एकोन्तोंकी सदोषता

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वाद-न्याय-विद्विषाम् ।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नाऽवाच्यमिति युज्यते ॥ ८२ ॥

'**अन्तरंग और बहिरंग ज्ञेयरूप दोनों एकान्तोंका एकात्म्य** (सहाऽभ्युपगम) **स्याद्वाद-न्यायके विद्वेषियोंके विरुद्ध हैं और इसलिये उनके उभय-एकान्तका सिद्धान्त नहीं बनता।** अन्तरंगार्थ और बहिरंगार्थ दोनों एकान्तोंकी अवाच्यताका एकान्त माननेपर 'अवाच्य है' यह उक्ति भी नहीं बनती—अवाच्यतैकान्तके विरुद्ध पड़ती है।'

उक्त दोनों एकान्तोंमें अपेक्षा-भेदसे सामंजस्य

भाव-प्रमेयाऽपेक्षायां　प्रमाणाभास-निह्नवः ।
बहिःप्रमेयाऽपेक्षायां प्रमाणं तन्निभं च ते ॥८३॥

'(हे अर्हन् भगवन् !) **आपके मतमें भावप्रमेयकी अपेक्षा**—

स्वसंवेदन-प्रमाणके द्वारा सब कुछ प्रत्यक्ष होनेपर—**और बाह्य-प्रमेयकी अपेक्षा**—इन्द्रियज्ञानके द्वारा प्रत्यक्ष होनेपर—**प्रमाण तथा प्रमाणाभास दोनों बनते हैं**—जहाँ विसंवाद होता है अथवा बाधा आती है वहाँ प्रमाणाभास बनता है और जहाँ विसंवाद न होकर निर्बाधता होती है वहाँ प्रमाण बनता है। इस तरह प्रमाण-अप्रमाणकी व्यवस्थारूपसे कोई विरोध नहीं आता; क्योंकि एक ही जीवके आवरणके अभावविशेषके कारण सत्य-असत्य-प्रतिभासरूप संवेदन-परिणामकी सिद्धि उसी प्रकार बनती है जिस प्रकार कि किट्ट-कालिमाके अभावविशेषके कारण सुवर्णका उत्कृष्ट-जघन्य परिणाम बनता है।'

यदि कोई कहे कि जीव कोई वस्तु ही नहीं है तो यह कहना नहीं बन सकता; क्योंकि जीवके ग्राहक (अस्तित्व-सूचक) प्रमाण-का सद्भाव है, उसीको अगली कारिकामें बतलाया जाता है।

जीव शब्द संज्ञा होनेसे सबाह्यार्थ है

जीव-शब्दः सबाह्यार्थः संज्ञात्वाद्धेतु-शब्दवत्।
मायादि-भ्रान्ति-संज्ञाश्च मायाद्यैः स्वैः प्रमोक्तिवत् ॥८४॥

'**जीव-शब्द बाह्यार्थ-सहित है**—बाह्यमें जीव शब्दका वाच्य अर्थस्वरूप-लक्षण-विशिष्ट जीव-वस्तु है—**क्योंकि यह शब्द संज्ञा (नाम) है, जो शब्द संज्ञा या नामरूप होता है वह बाह्य अर्थके बिना नहीं होता, जैसे हेतु-शब्द**—अग्निमान् आदिके अनुमानमें प्रयुक्त हुआ धूम (धुआँ) आदि संज्ञात्मक हेतु-शब्द धुआं आदि नामधारी बाह्य-पदार्थके अस्तित्वके बिना नहीं होता, सब ही हेतु-वादी हेतु-शब्दको बाह्यार्थ-सहित मानते हैं; अन्यथा हेतु और हेत्वाभासमें कोई भेद नहीं बन सकता।

(यदि यहाँ कोई कहे कि माया (इन्द्रजाल) आदि भ्रान्तिकी संज्ञाएँ हैं, जिनका कोई बाह्यार्थ नहीं है अतः संज्ञापना हेतु अनेकान्तिक है—व्यभिचारी है—उससे जीव-शब्दका बाह्यार्थ होना अनिवार्य (लाज़िमी) नहीं ठहरेगा तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि) **मायादि जो भ्रान्तिकी संज्ञाएँ हैं वे भी प्रमाणोक्तिके समान अपने अर्थको साथमें लिये हुए हैं।** *जिस प्रकार प्रमाण-वचनका ज्ञान-लक्षण बाह्यार्थ है उसी प्रकार मायादि भ्रान्ति-संज्ञाओंका भी* बाह्यार्थ भ्रान्ति-विषयक विशिष्ट-प्रतिपत्ति है—भ्रान्ति-संज्ञाओंका भ्रान्तिरूप अर्थका अभाव माननेपर भ्रान्ति-संज्ञासे भ्रान्ति-प्रतिपत्तिका योग नहीं बन सकेगा और उस योगके न बननेसे प्रमाणत्व-प्रतिपत्तिका प्रसंग उपस्थित होगा। अर्थात् भ्रान्तिको भी सम्यक्ज्ञान मानना पड़ेगा जो इष्ट तथा अबाधित नहीं। इससे खरविषाण (गधेके सींग) खपुष्प (गगनकुसुम) आदि शब्दोंका भी स्वार्थ-रहित होना बाधित हो जाता है। उनका स्वार्थ अभाव है, उसको न मानने पर खर-विषाणादिके भावका प्रसंग उपस्थित होगा। अतः इन खरविषाणादिके साथ भी उक्त संज्ञात्व-हेतुका व्यभिचार नहीं है।)

संज्ञात्व-हेतुमें व्यभिचार-दोषका निराकरण

बुद्धि-शब्दाऽर्थ-संज्ञास्तास्तिस्रो बुद्ध्यादिवाचिकाः।
तुल्या बुद्ध्यादिबोधाश्च त्रयस्तत्प्रतिबिम्बकाः ॥ ८५ ॥

'(यदि कोई मीमांसक-मतानुसारी यह कहे कि अर्थ, शब्द और ज्ञान ये तीनों बराबरकी संज्ञाएँ हैं[1], जीव-अर्थ जीव-शब्द और जीव-बुद्धि तीनोंकी 'जीव' संज्ञा होनेपर अर्थ-पदार्थक जीव-

---

१. अर्थोऽभिधान-प्रत्ययास्तुल्यनामानः इति।

शब्द ही सबाह्यार्थ प्रसिद्ध है—बुद्धि-पदार्थक तथा शब्द-पदार्थक नहीं, ऐसी स्थितिमें संज्ञापना हेतुके विपक्षमें भी व्यापनेसे व्यभिचार दोष आता है; क्योंकि संज्ञात्व-हेतुको बुद्धि, शब्द और अर्थादिक विशेषणसे रहित सामान्य-रूपसे हेतु कहा गया है, तो ऐसा कहनेवाले भी यथार्थवादी नहीं हैं; क्योंकि) **बुद्धि, शब्द और अर्थ तीनोंकी संज्ञाएँ और बुद्धि-आदिसंज्ञा-जनित बुद्धि-आदि-विषयक तीनों बोध भी सर्वत्र स्वव्यतिरिक्त बुद्ध्यादि विषयके प्रतिबिम्बक होते हैं**—उच्चारित-शब्दसे जो (अव्यभिचरित) निश्चित-बोध होता है वही उसका स्वार्थ है, अन्यथा शब्दके व्यवहारका विलोप ठहरता है। जैसे अर्थपदार्थक जीव-शब्दसे 'जीवको नहीं मारना चाहिये' इस वाक्यमें जीवअर्थका प्रतिबिम्बक बोध उत्पन्न होता है वैसे ही बुद्धिपदार्थक जीव-शब्दसे 'जीव बोधको प्राप्त होता' है इत्यादि बुद्धिस्वरूप जीव-शब्दसे बुद्धि-अर्थका प्रतिबिम्बक बोध होता है और 'जीव' कहा जाता है इस शब्द-पदार्थक जीव-शब्दसे शब्दका प्रतिबिम्बक बोध होता है। इस तरह शब्दसे चूँकि तीन प्रकारका बोध उत्पन्न होता है इसलिये बुद्धि आदि तीनों संज्ञाओंमेंसे प्रत्येकके तीन अर्थ जाने जाते हैं, जिससे संज्ञात्वहेतुमें व्यभिचारदोषके लिये कोई स्थान नहीं रहता।'

संज्ञात्व-हेतुमें विज्ञानाद्वैतवादीकी शंकाका निरसन

वक्तृ-श्रोतृ-प्रमातृणां बोध-वाक्य-प्रमाः पृथक्।
भ्रान्तावेव प्रमाभ्रान्तौ बाह्याऽर्थौ तादृशेतरौ ॥ ८६ ॥

(यदि कोई विज्ञानाद्वैतवादी—योगाचारमतानुयायी बौद्धका पक्ष लेकर यह कहे कि 'आपका संज्ञापना हेतु विज्ञानाद्वैतवादीके प्रति असिद्ध है; क्योंकि संज्ञाका विज्ञानसे पृथक् कोई अस्तित्व

नहीं है, दृष्टान्त जो 'हेतु-शब्दवत्' दिया गया है वह भी साधन-विकल है, हेतु-शब्दके तदाकारज्ञानसे भिन्न दूसरे हेतु-शब्दका अभाव है। संज्ञाके अवभासनमें जो ज्ञान प्रवृत्त होता है उस संज्ञाभासज्ञानको हेतु माननेपर अर्थात् यह कहनेपर कि 'जीव-शब्द सबाह्यार्थ है' संज्ञाभास (शब्दाकार) ज्ञानके होनेसे तो यह हेतु शब्दाभास (शब्दाकार) स्वप्नज्ञानके साथ व्यभिचारी है, जिसमें शब्दाकार ज्ञानके होते हुए भी बाह्यार्थका अभाव होता है' तो ऐसी शंका करनेवालोंके समाधानार्थ आचार्य-श्री स्वामी सुमन्तभद्र कहते हैं—)

'**वक्ताका** (अभिधेय-विषयक) **बोध** (जो वाक्यकी प्रवृत्तिमें कारण होता है), **श्रोताका वाक्य** (जो उसे अभिधेय-परिज्ञानके लिये सुननेको मिलता है) **और प्रमाताका प्रमाण** (जो सुने हुए वाक्यके अर्थावबोधको लेकर वक्ताके अभिधेय-विषयमें योग्य-अयोग्य अथवा सत्य-असत्यका निर्णय करता है) **ये तीनों एक दूसरेसे पृथक् जाने जाते हैं**—भिन्न-भिन्न प्रतिभासित होते हैं—ऐसी स्थितिमें विज्ञानाद्वैतता बाधित ठहरती है, 'संज्ञात्वात्' हेतुके असिद्धताका दोष नहीं आता और न 'हेतु-शब्दवत्' इस दृष्टान्तके साध्य-विकलताका प्रसंग ही उपस्थित होता है।

(इसपर यदि यह कहा जाय कि बाह्य अर्थका अभाव होनेसे वक्ता, श्रोता और प्रमाता ये तीनों बुद्धि (ज्ञान)से पृथक्-भूत नहीं हैं; वक्तादिके आभास—आकाररूप परिणत हुई बुद्धिके ही वक्ता आदिका व्यवहार होता है, वाक्यके अवतारका भी बोध (बुद्धि) के बिना कहीं कोई अस्तित्व नहीं बनता और प्रमाण स्वयं बोधरूप है ही। अतः (वक्तादित्रयके बुद्धिसे पृथग्भूत न होनेके कारण) उक्त हेतुके असिद्धतादि दोष बराबर घटित

होता है, तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि) **रूपादिग्राहक वक्ता तथा श्रोताके, व्यक्तिरिक्त-विज्ञानसन्तान-कलापके और स्वांश (ज्ञान)-मात्रावलम्बी प्रमाणके विभ्रमकी कल्पना किये जानेपर रूपादिकी पूर्णतः असिद्धि होती है और उस असिद्धिसे अन्तर्ज्ञेय जो ज्ञानाद्वैत है उसकी मान्यता विरुद्ध पड़ती है**—रूपादिककी, अभिधेयकी, ग्राहक वक्ता तथा श्रोताकी विभ्रम-रूप कल्पना किये जानेपर व्यतिरिक्त-विज्ञानका जो सन्तान-कलाप है वह स्वांशमात्रग्राही सिद्ध नहीं होता; क्योंकि स्वांश-मात्रावलम्बी ज्ञानोंके परस्पर असंचार है—स्वरूपका गमकत्व नहीं बनता—जिससे अभिधान-ज्ञान और अभिधेय-ज्ञानका भेद होवे। स्वांशमात्रावलम्बी ज्ञानको भी यदि विभ्रम रूप माना जावे तो प्रमाणकी सिद्धि नहीं बनती; क्योंकि बौद्धोंके यहाँ अभ्रान्त ज्ञानको प्रमाण माना गया है[1]। प्रमाणकी भी विभ्रम-रूपसे कल्पना किये जानेपर अन्तर्ज्ञेय (ज्ञानाद्वैत) ही तत्त्व है यह अभ्युपगम कैसे विरुद्ध नहीं पड़ेगा ? प्रमाणान्तरसे अभ्युपगम माननेपर सभीके अपने इष्टके अभ्युपगमका प्रसंग उपस्थित होगा, उसमें बाधा नहीं दी जा सकेगी। **प्रमाणके भ्रान्त होनेपर बाह्यार्थों, तादृश-अतादृशों, प्रमेयों, अन्तर्ज्ञेय-बहिर्ज्ञेयों, इष्टाऽनिष्टोंका विवेचन भी भ्रान्त ठहरेगा**—स्वज्ञान-ग्राहककी अपेक्षासे अन्तर्ज्ञेय और बहिर्ज्ञेय दोनों ही बाह्यार्थ हैं और वे ग्राहक-प्रमाणके भ्रान्त होनेसे विभ्रमरूप भ्रान्त ही ठहरते हैं, ऐसी स्थितिमें अन्तर्ज्ञेय (ज्ञानाद्वैत)का एकान्त माननेपर हेयोपादेयका विवेक किस आधारपर बन सकता है ? नहीं बन सकता। और यदि प्रमाणको अभ्रान्त माना जाय तो बाह्यार्थको स्वीकार किया जाना चाहिये;

---

१. प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तमिति वचनात्।

क्योंकि बाह्यार्थके अभावमें प्रमाण-प्रमाणभासकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती; जैसाकि अगली कारिकामें स्पष्ट किया गया है।'

बुद्धि तथा शब्दकी प्रमाणता और सत्याऽनृतकी व्यवस्था
बाह्यार्थके होने न होनेपर निर्भर

बुद्धि-शब्द-प्रमाणत्वं बाह्यार्थे सति नाऽसति ।
सत्याऽनृतव्यवस्थैवं युज्यतेऽर्थाप्त्यनाप्तिषु ॥ ८७ ॥

'(स्वप्रतिपत्तिके लिये) **बुद्धिरूप**-ज्ञानकी **और** (परप्रतिपत्ति-के लिये) **शब्दकी प्रमाणता बाह्य-अर्थके** (जो कि ग्राहककी अपेक्षासे ज्ञानरूप वा अज्ञानरूप है) **होनेपर अवलम्बित है, न** होनेपर वह नहीं बनती—तब प्रमाणाभासता होती है। **इसी प्रकार बाह्य-अर्थके होने न होनेपर बुद्धि और शब्द दोनोंकी** (जो कि स्व–पर–पक्ष-साधन-दूषणात्मक होते हैं) **सत्य और असत्यकी व्यवस्था युक्त होती है**—बाह्यार्थके होनेपर दोनोंके सत्यकी और न होनेपर असत्यकी व्यवस्था बनती है।'

(ऐसी स्थितिमें बाह्यार्थकी सिद्धि होनेसे '**वक्तृ-श्रोतृ-प्रमातृणां बोध-वाक्य-प्रमाः पृथक्**' इस कारिकामें कहे गये वक्ता, श्रोता, प्रमाता तीनों और इनके बोध-वाक्य-प्रमाण ये तीनों भी सिद्ध होते हैं, और इसलिये जीव-शब्दके बाह्यार्थ-साधनमें दिये गये संज्ञात्व-हेतुके असिद्धता तथा अनैकान्तिकताका दोष घटित नहीं होता और न 'हेतुशब्दवत्' इस दृष्टान्तके साधनधर्म-वैकल्य ही घटित होता है, जिससे जीवकी सिद्धि न होवे—जीवकी सिद्धि उक्त हेतु और दृष्टान्त दोनोंसे होती है। जीवके अर्थको जानकर प्रवृत्ति करनेवालेके संवाद-विसंवादकी सिद्धि सिद्ध होती ही है।)

इति देवागमऽऽप्त-मीमांसायां सप्तमः परिच्छेदः ।

अष्टम परिच्छेद

दैवसे सिद्धिके एकान्तकी सदोषता

दैवादेवार्थसिद्धिश्चेद्दैवं पौरुषतः कथम् ।
दैवतश्चेदनिर्मोक्षः पौरुषं निष्फलं भवेत् ॥ ८८ ॥

'**यदि** (मीमांसकमतानुसार) **दैवसे ही अर्थकी**—संपूर्णप्रयोजनरूप कार्यकी—**सिद्धि मानी जाय तो फिर दैवरूप कार्यकी सिद्धि पौरुषसे**—कुशलाऽकुशल-समाचरण-लक्षण-पुरुषव्यापारसे—**कैसे कही जा सकती है**?—नहीं कही जा सकती; क्योंकि वैसा कहनेसे प्रतिज्ञाको हानि पहुँचती है अर्थात् यह कहना बाधित होता है कि 'सर्व-अर्थकी सिद्धि दैवसे होती है' । **यदि पौरुषसे दैवकी सिद्धि न मानकर दैवान्तरसे दैवकी सिद्धि मानी जाय तो फिर मोक्षका अभाव ठहरता है**—क्योंकि पूर्व पूर्व दैवसे उत्तरोत्तर दैवकी प्रवृत्ति तब समाप्त नहीं हो सकेगी—**और मोक्षके अभावसे तत्कारणभूत पौरुष निष्फल हो जाता अथवा व्यर्थ ठहरता है**।'

(यदि यह कहा जाय कि पुरुषार्थसे दैवका क्षय होनेपर मोक्षकी सिद्धि होती है अतः पुरुषार्थको निष्फल नहीं कहा जा सकता, तो फिर वही प्रतिज्ञा-हानि उपस्थित होती है—पुरुषार्थसे मोक्षप्राप्तिको स्वीकार कर लेनेपर सब कुछ दैवसे उत्पन्न (सिद्ध) होता है इस प्रकारकी जो प्रतिज्ञा है वह स्थिर नहीं रहती—बाधित ठहरती है । इसपर यदि मीमांसकोंके द्वारा यह कहा जाय कि मोक्ष-कारण-पौरुषके भी दैवकृत होनेसे परंपरासे मोक्ष भी दैवकृत सिद्ध होता है, इसमें प्रतिज्ञा-हानिकी कोई

बात नहीं, तो यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि तब पौरुषसे ही वैसे दैवका सिद्ध होना ठहरता है, इसलिये दैवका एकान्त स्थिर नहीं रहता। दूसरे, धर्मसे ही अभ्युदय तथा निःश्रेयस-सिद्धिकी जो एकान्तमान्यता है वह बाधित ठहरती है। और तीसरे, उनके द्वारा मान्य महेश्वरकी सिसृक्षा (सृष्टि रचनेकी इच्छा) के व्यर्थ होनेका प्रसंग उपस्थित होता है—अर्थात् सृष्टिकी उत्पत्तिके दैवाधीन होनेसे इस प्रकारके वचनोंका कहना नहीं बनता कि 'यह अज्ञ प्राणी अपनेको सुख-दुःख प्राप्त करनेमें असमर्थ है, ईश्वरकी इच्छासे प्रेरित हुआ ही स्वर्ग या नरकको जाता है।')

पौरुषसे सिद्धिके एकान्तकी सदोषता

पौरुषादेव सिद्धिश्चेत् पौरुषं दैवतः कथम् ।
पौरुषाच्चेदमोघं स्यात् सर्व-प्राणिषु पौरुषम् ॥८९॥

'**यदि पौरुषसे ही सब कुछ सिद्धिका एकान्त माना जाय तो यह प्रश्न पैदा होता है कि पौरुषरूप कार्यकी सिद्धि कैसे ? उसे यदि दैवसे कहा जाय**—पुण्य-पापरूप दैवी सम्पत्तिके आश्रित बतलाया जाय—**तो यह कहना उक्त एकान्तको माननेपर कैसे बन सकता है** ? नहीं बन सकता; क्योंकि इससे प्रतिज्ञा-हानिका—स्वीकृत एकान्तसिद्धान्तको बाधा पहुँचनेका—प्रसंग उपस्थित होता है तथा उक्त एकान्त स्थिर नहीं रहता। **यदि बुद्धि-व्यवसायात्मक पौरुष** (पुरुषार्थ) **की सिद्धिको पौरुषसे ही माना जाय तो सब प्राणियोंमें पौरुष अमोघ ठहरेगा**—किसीका भी **पौरुष** तब (बाधक कारणान्तरके न होनेसे) निष्फल नहीं **जायगा**—परन्तु यह प्रत्यक्षके विरुद्ध है; क्योंकि समान-पुरुषार्थ

करनेवालोंके भी एकका पुरुषार्थ सफल और दूसरेका निष्फल होता देखा जाता है, ऐसे इस मान्यतामें व्यभिचार-दोष आता है।'

(यदि यह कहा जाय कि पुरुषार्थ दो प्रकारका है—एक सम्यग्ज्ञान-पूर्वक और दूसरा मिथ्याज्ञान-पूर्वक। मिथ्याज्ञानपूर्वक पुरुषार्थमें व्यभिचार आने अथवा उसके सफल न होनेपर भी सम्यग्ज्ञानपूर्वक जो पुरुषार्थ है वह सफल होता है अतः सच्चा (सम्यग्ज्ञानपूर्वक) पुरुषार्थ सफल ही होता है, तो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसा कहनेवाले चार्वाकमतवालोंके दृष्टकारण-सामग्रीके सम्यग्ज्ञानपूर्वक पुरुषार्थमें भी व्यभिचार-दोष दिखलाई पड़ता है—खेती आदिकी सफलताके दृष्ट-कारणोंका सम्यग्ज्ञान होते हुए भी किसीको तत्पूर्वक खेती आदि करनेपर सफलता नहीं मिलती। और अदृष्टताको प्राप्त (अदृश्य) कारण-कलापका प्रत्यक्षरूपसे सम्यग्ज्ञान अल्पज्ञोंके असंभव है अतः तत्पूर्वक पुरुषार्थ उनके बनता नहीं। यदि अनुमानादि-प्रमाणान्तरसे उस ज्ञानका संभव माना जाय तो इसमें दो विकल्प उत्पन्न होते हैं—एक तो यह कि वह अदृश्य-कारणकलाप कारण-शक्तिका विशेष है अथवा पुण्य-पापका विशेष है। यदि उसे कारण-शक्तिका विशेष कहा जाय तो उस शक्ति-विशेषका सम्यग्ज्ञान होने पर भी तत्पूर्वक पुरुषार्थके व्यभिचार दोष दिखलाई पड़ता है; जैसे क्षीणायुष्क-मनुष्यमें औषधशक्ति-विशेषके सम्यग्ज्ञानपूर्वक भी उस औषधिको पिलाने आदिका जो पुरुषार्थ किया जाता है वह उपयोगी नहीं होता—निष्फल जाता है। इससे सर्व-प्राणियोंमें पुरुषार्थके अमोघत्वकी सिद्धि नहीं बनती। और यदि उस अदृश्य-कारणकलापको पुण्य-पापादिका विशेष माना जाय तो दैवकी सहायतासे हुए पौरुषसे ही फल-

की सिद्धि ठहरी। इधर दैवके सम्यग्ज्ञानपूर्वक उपायसे उपेयकी व्यवस्थिति और उधर दैवके अपरिज्ञानपूर्वक भी कदाचित् फलकी उपलब्धि देखनेमें आती है, इससे सम्यग्ज्ञानपूर्वक पुरुषार्थका एकान्त भी ठीक नहीं है।)

उभय तथा अवक्तव्य-एकान्तोंकी सदोषता

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वाद-न्याय-विद्विषाम्।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नाऽवाच्यमिति युज्यते ॥९०॥

'स्याद्वादन्यायके विद्वेषियोंके दैव और पौरुष दोनों एकान्तों-का एकात्म्य नहीं बनता; क्योंकि इनमें परस्पर विरोध है (इन दोनों एकान्तोंकी) अवाच्यताका एकान्त माननेपर इन्हें अवाच्य कहना भी नहीं बनता है—कहनेसे स्ववचन-विरोध घटित होता है।

दैव-पुरुषार्थ-एकान्तोंकी निर्दोष-विधि

अबुद्धिपूर्वाऽपेक्षायामिष्टाऽनिष्टं स्वदैवतः।
बुद्धिपूर्वव्यपेक्षामिष्टाऽनिष्टं स्वपौरुषात् ॥ ९१ ॥

'जो इष्ट या अनिष्ट—अनुकूल वा प्रतिकूल—कार्य अपने बुद्धि-व्यापारकी अपेक्षा रखे बिना ही घटित अथवा उपस्थित होता है उसे स्वदैवकृत समझना चाहिये—क्योंकि उसमें पौरुष गौण और दैव प्रधान हैं। और जो इष्ट या अनिष्ट कार्य अपने बुद्धिव्यापारकी अपेक्षा रखकर घटित अथवा उपस्थित होता है उसे स्वपौरुषकृत समझना चाहिये; क्योंकि उसमें दैव गौण और पौरुष प्रधान है।'

व्याख्या—दैव और पुरुषार्थ दोनोंकी व्यवस्था एक दूसरेकी

अपेक्षाको साथमें लिये हुए है, एकके अभावमें दूसरेकी व्यवस्था नहीं बनती। वस्तुतः दोनोंके संयोगसे ही कार्यसिद्धि होती है, अन्यथा वह नहीं बनती। अतः दोनोंमेंसे किसीका भी एकान्त ठीक न होकर स्याद्वाद-नीतिको लिये हुए अनेकान्त-दृष्टि ही श्रेयस्कर है—दैव-पौरुष–विषयक सारे विवादको शान्त करनेवाली है। और इसलिये सब कुछ कथंचित् दैवकृत है, अबुद्धिपूर्वकी अपेक्षासे; कथंचित् पौरुषकृत है, बुद्धिपूर्वकी अपेक्षासे; कथंचित् उभयकृत है, क्रमार्पित दैव-पौरुष दोनोंकी अपेक्षासे; कथंचित् दैवकृत और अवक्तव्यरूप है, अबुद्धिपूर्वककी अपेक्षा तथा सहार्पित दैव-पौरुषकी अपेक्षासे; कथंचित् पौरुषकृत और अवक्तव्यरूप है, बुद्धिपूर्वकी अपेक्षा तथा सहार्पित-दैव-पौरुषकी अपेक्षासे; कथंचित् उभय और अवक्तव्यरूप है, क्रमार्पित-दैव-पौरुष और सहार्पित-दैव-पौरुषकी अपेक्षासे। इस तरह सप्तभंगी प्रक्रिया यहाँ भी पूर्ववत् जाननी।

इति देवागमाऽऽप्तमीमांसायामष्टमः परिच्छेदः।

नवम परिच्छेद

परमें दुःख-सुखसे पाप-पुण्यके एकान्तकी सदोषता

(इष्ट-अनिष्टके साधनरूप जो दैव है वह दो प्रकारका है—एक पुण्य और दूसरा पाप। यह दोनों प्रकारका दैव कैसे उत्पन्न होता है, इस विषयके विवादका प्रदर्शन और निराकरण करते हुए आचार्यमहोदय लिखते हैं :—)

पापं ध्रुवं परे दुःखात् पुण्यं च सुखतो यदि ।
अचेतनाऽकषायौ च बध्येयातां निमित्ततः ॥९२॥

'**यदि परमें दुःखोत्पादनसे निश्चित** (एकान्ततः) **पाप-बन्धका होना और सुखोत्पादनसे** (एकान्ततः) **पुण्यबन्धका होना माना जाय तो अचेतन पदार्थ**—कण्टकादिक तथा दुग्धादिक—**और अकषाय-परिणत जीव**—वीतराग-अवस्थामें स्थित मुनि आदि—**भी दुःख-सुखका निमित्त होनेसे बन्धको प्राप्त होंगे**—उन्हें तब अबन्धक कैसे माना जा सकता है ? (इस पर यदि यह कहा जाय कि उनके दूसरोंको दुःख वा सुख देनेका कोई अभिसंधान या संकल्प नहीं होता इसलिये वे बन्धको प्राप्त नहीं होते तो फिर परमें दुःख-सुखका उत्पादन निश्चितरूपसे पाप-पुण्यके बन्धका हेतु है ऐसा एकान्त नहीं बन सकता ।)'

व्याख्या—जब परमें सुख-दुःखका उत्पादन ही पुण्य-पापका एक मात्र कारण है तो फिर दूध-मलाई तथा विष-कण्टकादिक अचेतन पदार्थ, जो दूसरोंके सुख-दुःखके कारण बनते हैं, पुण्य-पापके बन्धकर्ता क्यों नहीं ? परन्तु इन्हें कोई भी पुण्य-पापके बन्धकर्ता नहीं मानता—काँटा पैरमें चुभकर दूसरेको दुःख उत्पन्न करता है, इतने मात्रसे उसे कोई पापी नहीं कहता और न पाप-फलदायक कर्मपरमाणु ही उससे आकर चिपटते अथवा बन्धको प्राप्त होते हैं । इसी तरह दूध-मलाई बहुतोंको आनन्द प्रदान करते हैं; परन्तु उनके इस आनन्दसे दूध-मलाई पुण्यात्मा नहीं कहे जाते और न उनमें पुण्य-फलदायक कर्म-परमाणुओंका ऐसा कोई प्रवेश अथवा संयोग ही होता है जिसका फल उन्हें (दूध-मलाईको) बादको भोगना पड़े । इससे उक्त एकान्त सिद्धान्त स्पष्ट सदोष जान पड़ता है ।

यदि यह कहा जाय कि 'चेतन ही बन्धके योग्य होते हैं अचेतन नहीं', तो फिर कषाय-रहित वीतरागियोंके विषयमें आपत्तिको कैसे टाला जायगा ? वे भी अनेक प्रकारसे दूसरोंके सुख-दुःखके कारण बनते हैं। उदाहरणके तौरपर किसी मुमुक्षुको मुनिदीक्षा देते हैं तो उसके अनेक सम्बन्धियोंको दुःख पहुँचता है। शिष्यों तथा जनताको शिक्षा देते हैं तो उससे उन लोगोंको सुख मिलता है। पूर्ण सावधानीके साथ ईर्यापथ शोधकर चलते हुए भी कभी-कभी दृष्टिपथसे बाहरका कोई जीव अचानक कूदकर पैर-तले आ जाता है और उनके उस पैरसे दबकर मर जाता है। कायोत्सर्गपूर्वक ध्यानावस्थामें स्थित होनेपर भी यदि कोई जीव तेज़ीसे उड़ा-चला आकर उनके शरीरसे टकरा जाता है और मर जाता है तो इस तरह भी उस जीवके मार्गमें बाधक होनेसे वे उसके दुःखके कारण बनते हैं। अनेक निर्जितकषाय ऋद्धिधारी वीतरागी साधुओंके शरीरके स्पर्शमात्रसे अथवा उनके शरीरको स्पर्श की हुई वायुके लगनेसे ही रोगीजन निरोग हो जाते हैं और यथेष्ट सुखका अनुभव करते हैं। ऐसे और भी बहुतसे प्रकार हैं जिनमें वे दूसरोंके सुख-दुःखके कारण बनते हैं। यदि दूसरोंके सुख-दुःखका निमित्त कारण बननेसे ही आत्मामें पुण्य-पापका आस्रव-बन्ध होता है तो फिर ऐसी हालतमें वे कषाय-रहित साधु कैसे पुण्य-पापके बन्धनसे बच सकते हैं ? यदि वे भी पुण्य-पापके बन्धनमें पड़ते हैं तो फिर निर्बन्ध अथवा मोक्षकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती; क्योंकि बन्धका मूलकारण कषाय है। कहा भी है— **"कषायमूलं सकलं हि बन्धनम्।" "सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः।"** और इसलिये अकषायभाव मोक्षका कारण है। जब अकषायभाव भी बन्धका कारण हो

गया तब मोक्षके लिए कोई कारण नहीं रहता। कारणके अभावमें कार्यका अभाव हो जानेसे मोक्षका अभाव ठहरता है। और मोक्ष-के अभावमें बन्धकी भी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती; क्योंकि बन्ध और मोक्ष जैसे सप्रतिपक्ष धर्म परस्परमें अविनाभाव-सम्बन्धको लिये होते हैं—एकके बिना दूसरेका अस्तित्व बन नहीं सकता, यह बात इससे पूर्व कारिकाकी व्याख्यामें भली प्रकार स्पष्ट की जा चुकी है। जब बन्धकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती तब पुण्य-पापके बन्धकी कथा ही प्रलापमात्र हो जाती है। अतः चेतन-प्राणियोंकी दृष्टिसे भी पुण्य-पापकी उक्त एकान्त-व्यवस्था सदोष है।

यहाँ पर यदि यह कहा जाय कि उन अकषाय-जीवोंके दूसरों-को सुख-दुःख पहुँचानेका कोई संकल्प या अभिप्राय नहीं होता, उस प्रकारकी कोई इच्छा नहीं होती और न उस विषयमें उनकी कोई आसक्ति ही होती है, इसलिये दूसरोंके सुख-दुःखकी उत्पत्ति-में निमित्तकारण होनेसे वे बन्धको प्राप्त नहीं होते; तो फिर 'दूसरोंमें दुःखोत्पादन पापका और सुखोत्पादन पुण्यका हेतु है' यह एकान्त सिद्धान्त कैसे बन सकता है?—अभिप्रायाभावके कारण अन्यत्र भी दुःखोत्पादनसे पापका और सुखोत्पादनसे पुण्यका बन्ध नहीं हो सकेगा; प्रत्युत इसके विरोधी अभिप्रायके कारण दुःखो-त्पत्तिसे पुण्यका और सुखोत्पत्तिसे पापका बन्ध भी हो सकेगा। जैसे एक डाक्टर सुख पहुँचानेके अभिप्रायसे पूर्ण सावधानीके साथ फोड़ेका ऑपरेशन करता है परन्तु फोड़ेको चीरते समय रोगीको कुछ अनिवार्य दुःख भी पहुँचाता है, इस दुःखके पहुँचनेसे डाक्टर-को पापका बन्ध नहीं होगा इतना ही नहीं, बल्कि उसकी दुःख-विरोधिनी भावनाके कारण यह दुःख भी पुण्य-बन्धका कारण

होगा। इसी तरह एक मनुष्य कषायभावके वशवर्ती होकर दुःख पहुँचानेके अभिप्रायसे किसी कुबड़ेको लात मारता है, लातके लगते ही अचानक उसका कुबड़ापन मिट जाता है और वह सुखका अनुभव करने लगता है, कहावत भी है—"कुबड़े गुण लात लग गई"—तो कुबड़ेके इस सुखानुभवसे लात मारनेवालेको पुण्यफलकी प्राप्ति नहीं हो सकती—उसे तो अपनी सुखविरोधिनी भावनाके कारण पाप ही लगेगा। अतः यह एकान्त सिद्धान्त कि 'परमें सुख-दुःखका उत्पादन पुण्य-पापका हेतु है' पूर्णतया सदोष है, और इसलिये उसे किसी तरह भी वस्तुतत्त्व नहीं कह सकते।

स्वमें दुःख-सुखसे पुण्य-पापके एकान्तकी सदोषता

पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात्पापं च सुखतो यदि।
वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां युंज्यान्निमित्ततः ॥९३॥

'यदि अपनेमें दुःखोत्पादनसे पुण्यका और सुखोत्पादनसे पापका बन्ध ध्रुव है—निश्चितरूपसे होता है—ऐसा एकान्त माना जाय, तो फिर वीतराग (कषायरहित) और विद्वान् मुनिजन भी पुण्य-पापसे बँधने चाहियें; क्योंकि ये भी अपने सुख-दुःखकी उत्पत्तिके निमित्तकारण होते हैं।'

व्याख्या—वीतराग और विद्वान् मुनिके त्रिकाल-योगादिके अनुष्ठान-द्वारा कायक्लेशादिरूप दुःखकी और तत्त्वज्ञानजन्य सन्तोषलक्षणरूप सुखकी उत्पत्ति होती है। जब अपनेमें दुःख-सुखके उत्पादनसे ही पुण्य-पाप बँधता है तो फिर ये अकषाय-जीव पुण्य-पापके बन्धनसे कैसे मुक्त रह सकते हैं? यदि इनके भी पुण्य-पापका ध्रुव बन्ध होता है तो फिर पुण्य-पापके अभावको

कभी अवसर नहीं मिल सकता और न कोई मुक्त होनेके योग्य हो सकता है—पुण्य-पापरूप दोनों बन्धोंके अभावके बिना मुक्ति होती ही नहीं। और मुक्तिके बिना बन्धनादिककी भी कोई व्यवस्था स्थिर नहीं रह सकती; जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है। यदि पुण्य-पापके अभाव बिना भी मुक्ति मानी जायगी तो संसृतिके—संसार अथवा सांसारिक जीवनके—अभावका प्रसंग आएगा, जो पुण्य-पापकी व्यवस्था माननेवालोंमेंसे किसीको भी इष्ट नहीं है। ऐसी हालतमें आत्म-सुख-दुःखके द्वारा पाप-पुण्यके बन्धनका यह एकान्त सिद्धान्त भी सदोष है।

यहाँ पर यदि यह कहा जाय कि अपनेमें दुःख-सुखकी उत्पत्ति होने पर भी तत्त्वज्ञानी वीतरागियोंके पुण्य-पापका बन्ध इसलिये नहीं होता कि उनके दुःख-सुखके उत्पादनका अभिप्राय नहीं होता, वैसी कोई इच्छा नहीं होती और न उस विषयमें आसक्ति ही होती है; तो फिर इससे तो अनेकान्त सिद्धान्तकी ही सिद्धि होती है—उक्त एकान्तकी नहीं। अर्थात् यह नतीजा निकलता है कि अभिप्रायको लिये हुए दुःख-सुखका उत्पादन पुण्य-पापका हेतु है, अभिप्रायविहीन दुःख-सुखका उत्पादन पुण्य-पापका हेतु नहीं है।

अतः उक्त दोनों एकान्त सिद्धान्त प्रमाणसे बाधित हैं, इष्टके भी विरुद्ध पड़ते हैं और इसलिये ठीक नहीं कहे जा सकते।

उभय तथा अवक्तव्य एकान्तोंकी सदोषता

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वाद-न्याय-विद्विषाम्।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्ति र्नाऽवाच्यमिति युज्यते ॥९४॥

'(पाप-पुण्यके बन्ध-सम्बन्धी प्रस्तुत दोनों एकान्तोंकी अलग

मान्यतामें दोष देखकर) **यदि दोनों सिद्धान्तोंके एकात्मरूप उभय एकान्तको माना जाय तो वह स्याद्वाद-न्यायसे द्वेष रखनेवालोंके विरोध-दोषके कारण नहीं बनता। अवाच्यताका एकान्त माननेमें भी 'अवाच्य है' यह कहना युक्त नहीं ठहरता है। क्योंकि** 'अवाच्य' शब्दके द्वारा वह 'वाच्य' हो जायगा और तब सर्वथा अवाच्यताका एकान्त नहीं रहेगा।

पुण्य-पापकी निर्दोष व्यवस्था

विशुद्धि-संक्लेशाङ्गं चेत् स्वपरस्थं सुखाऽसुखम् ।
पुण्य-पापास्रवौ युक्तौ न चेद्व्यर्थस्तवाऽर्हतः ॥९५॥

'**यदि स्व-परस्थ**—अपना अथवा परका—**सुख-दुःख विशुद्धि तथा संक्लेशका अंग है**—तत्कारण-कार्य वा स्वभावरूप है—**तो वह सुख-दुःख यथा क्रम पुण्य-पापके आस्रव-बन्धका हेतु है और यदि विशुद्धि तथा संक्लेश दोनोंमेंसे किसीका भी अंग**—कारण-कार्य-स्वभावरूप—**नहीं होता है तो** (हे अर्हन् भगवन् !) **आपके मतमें वह व्यर्थ कहा है**—उसका कोई फल नहीं। अन्यथा, पूर्वकारिका (९३) में कहे हुए 'अचेतनाऽकषायौ' और 'वीतरागो मुनिर्विद्वान्' पदोंमें जिनका उल्लेख है उनके भी बन्धका प्रसंग उपस्थित होगा।'

व्याख्या—यहाँ 'संक्लेश' का अभिप्राय आर्त-रौद्रध्यानके परिणामसे है—"**आर्त-रौद्र-ध्यानपरिणामः संक्लेशः**" ऐसा अकलंकदेवने 'अष्टशती' टीकामें स्पष्ट लिखा है और श्रीविद्यानन्दने उसे 'अष्टसहस्री' में अपनाया है। 'संक्लेश' शब्दके साथ प्रतिपक्षरूपसे प्रयुक्त होनेके कारण 'विशुद्धि' शब्दका अभिप्राय 'संक्लेशाऽभाव' है ("तदभावः विशुद्धिः", इत्यकलंकः)—उस क्षायिकलक्षणा तथा अविनश्वरी परमशुद्धिका अभिप्राय नहीं है

जो निरवशेष-रागादिके अभावरूप होती है, उस विशुद्धिमें तो पुण्य-पाप-बन्धके लिये कोई स्थान नहीं है। और इस लिए विशुद्धिका आशय यहाँ आर्तरौद्रध्यानसे रहित शुभपरिणतिका है। वह परिणति धर्म्यध्यान तथा शुक्लध्यानके स्वभावको लिये हुए होती है। ऐसी परिणतिके होनेपर ही आत्मा स्वात्मामें—स्वस्वरूपमें—स्थितिको प्राप्त होता है, चाहे वह कितने ही अंशोंमें क्यों न हो। इसीसे अकलंकदेवने अपनी व्याख्यामें, इस संक्लेशाभावरूप विशुद्धिको "**आत्मनः स्वात्मन्यवस्थानम्**" रूपसे उल्लिखित किया है और इससे यह नतीजा निकलता है कि उक्त पुण्य-प्रसाधिका विशुद्धि आत्माके विकासमें सहायक होती है, जब कि संक्लेशपरिणतिमें आत्माका विकास नहीं बन सकता—वह पाप-प्रसाधिका होनेसे आत्माके अधःपतनका कारण बनती है। इसी लिये पुण्यको प्रशस्त और पापको अप्रशस्त कर्म कहा गया है।

विशुद्धिके कारण, विशुद्धिके कार्य और विशुद्धिके स्वभावको 'विशुद्धिअंग' कहते हैं। इसी तरह संक्लेशके कारण, संक्लेशके कार्य तथा संक्लेशके स्वभावको 'संक्लेशाङ्ग' कहते हैं। स्व-परस्थ सुख-दुःख यदि विशुद्धिअंगको लिये हुए होता है तो वह पुण्य-रूप शुभ-बन्धका और संक्लेशाङ्गको लिए हुए होता है तो पाप-रूप अशुभबन्धका कारण होता है, अन्यथा नहीं। तत्त्वार्थसूत्रमें, "**मिथ्यादर्शनाऽविरतप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः**' इस सूत्रके द्वारा मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय-योगरूपसे बन्धके जिन कारणोंका निर्देश किया है वे सब संक्लेशपरिणाम ही हैं; क्योंकि आर्त-रौद्रध्यानरूप परिणामोंके कारण होनेसे 'संक्लेशाङ्ग'-में शामिल हैं; जैसे कि हिंसादि-क्रिया संक्लेशकार्य होनेसे संक्लेशाङ्गमें गर्भित है। अतः स्वामी समन्तभद्रके इस कथनसे उक्त

सूत्रका कोई विरोध नहीं है। इसी तरह '**कायवाङ्मनःकर्मयोगः**', '**स आस्रवः**', '**शुभः पुण्यस्याऽशुभः पापस्य**' इन तीन सूत्रोंके द्वारा शुभकायादि-व्यापारको पुण्यास्रवका और अशुभ-कायादि-व्यापार-को पापास्रवका जो हेतु प्रतिपादित किया है वह कथन भी इसके विरुद्ध नहीं पड़ता; क्योंकि कायादि-योगके भी विशुद्धि और संक्लेशके कारण-कार्य-स्वभावके द्वारा संक्लेशत्व-विशुद्धित्वकी व्यवस्थिति है। संक्लेशके कारण-कार्य-स्वभाव ऊपर बतलाए जा चुके हैं। विशुद्धिके कारण सम्यग्दर्शनादिक हैं, धर्म्यध्यान तथा शुक्लध्यान उसके स्वभाव हैं और विशुद्धिपरिणाम उसका कार्य है। ऐसी हालतमें स्व-पर-दुःखको हेतुभूत कायादि-क्रियाएँ यदि संक्लेश-कारण-कार्य-स्वभावको लिए हुए होती हैं तो वे संक्लेशाङ्गत्वके कारण, विषभक्षणादिरूप कायादिक्रियाओंकी तरह, प्राणियोंको अशुभफलदायक पुद्गलोंके सम्बन्धका कारण बनती हैं; और यदि विशुद्धि-कारण-कार्य-स्वभावको लिए हुए होती हैं तो विशुद्धयङ्गत्वके कारण, पथ्य आहारादिरूप कायादिक्रियाओंकी तरह, प्राणियोंके शुभफलदायक पुद्गलोंके सम्बन्धका कारण होती हैं। जो शुभफलदायक पुद्गल हैं वे पुण्यकर्म हैं, जो अशुभफलदायक पुद्गल हैं वे पापकर्म हैं, और इन पुण्य-पाप-कर्मोंके अनेक भेद हैं। इस प्रकार संक्षेपसे इस कारिकामें संपूर्ण शुभाऽशुभरूप पुण्यपाप-कर्मोंके आस्रव-बन्धका कारण सूचित किया है। इससे पुण्य-पापकी व्यवस्था बतलानेके लिये यह कारिका कितनी रहस्यपूर्ण है, इसे विज्ञपाठक स्वयं समझ सकते हैं।

सारांश इस सब कथनका इतना ही है कि—सुख और दुःख दोनों ही, चाहे स्वस्थ हों या परस्थ—अपनेको हों या दूसरोंको—कथंचित् पुण्यरूप आस्रव-बन्धके कारण हैं, विशुद्धिके अंग होनेसे;

कथंचित् पापरूप आस्रव-बन्धके कारण हैं, संक्लेशके अंग होनेसे; कथंचित् पुण्य-पाप उभयरूप आस्रव-बन्धके कारण हैं, क्रमार्पित विशुद्धि-संक्लेशके अंग होनेसे; कथंचित् अवक्तव्यरूप हैं, सहार्पित-विशुद्धि-संक्लेशके अंग होनेसे। और विशुद्धि-संक्लेशका अंग न होनेपर दोनों ही बन्धके कारण नहीं हैं। इस प्रकार नय-विवक्षाको लिए हुए अनेकान्तमार्गसे ही पुण्य-पापकी व्यवस्था ठीक बैठती है—सर्वथा एकान्तपक्षका आश्रय लेनेसे नहीं। एकान्त पक्ष सदोष है; जैसाकि ऊपर बतलाया जा चुका है और इस लिये वह पुण्य-पापका सम्यक् व्यवस्थापक नहीं हो सकता।

इति देवागमाऽऽप्तमीमांसायां नवमः परिच्छेदः।

दशम परिच्छेद

अज्ञानसे बन्धका और अल्पज्ञानसे मोक्षका एकान्त

अज्ञानाच्चेद्ध्रुवो बन्धो ज्ञेयाऽनन्त्यान्न केवली।
ज्ञानस्तोकाद्विमोक्षश्चेदज्ञानाद्बहुतोऽन्यथा ॥९६॥

'यदि (सांख्यमतानुसार) अज्ञानसे बन्धका होना अवश्यं-भावी माना जाय तो ज्ञेयोंकी अनन्तताके कारण कोई भी केवली—सकलविपर्यय-रहित तथा ज्ञानान्तरकी सहायता-रहित तत्त्व-ज्ञानरूप केवलसे युक्त—न हो सकेगा। यदि अल्पज्ञानसे मोक्षका होना माना जाय तो अज्ञानके बहुत होनेके कारण बन्धका प्रसंग बराबर उपस्थित रहेगा और उसका निरोध न हो सकनेसे मोक्षका होना नहीं बन सकेगा।'

उभय और अवक्तव्य एकान्तोंकी सदोषता

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वाद-न्याय-विद्विषाम् ।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नाऽवाच्यमिति युज्यते ॥९७॥

(सर्वात्मरूपसे एक व्यक्तिके एक कालमें) **अल्पज्ञानसे मोक्ष और बहुत अज्ञानसे बन्ध इन दो एकान्तोंमें स्याद्वाद-न्यायके विद्वेषियोंके अविरोध सिद्ध नहीं होता, अतः परस्पर विरोधके कारण उभय एकान्त नहीं बनता। अवाच्यताका एकान्त माननेमें भी 'अवाच्य' है यह कहना ही नहीं बनता**—इससे पूर्ववत् स्ववचन-विरोध घटित होता है।

अज्ञान-अल्पज्ञानसे बन्ध-मोक्षकी निर्दोष-विधि

अज्ञानान्मोहिनो बन्धो नाऽज्ञानाद्वीत-मोहतः ।
ज्ञानस्तोकाच्च मोक्षः स्यादमोहान्मोहिनोऽन्यथा ॥९८॥

'**मोह-सहित** अज्ञानसे बन्ध **होता है**—जो अज्ञान मोहनीय-कर्मप्रकृति-लक्षणसे युक्त है वह स्थिति-अनुभागरूप स्वफलदान-समर्थ कर्म-बन्धका कर्त्ता है। **जो अज्ञान मोहसे रहित है वह** (उक्त फलदान-समर्थ) **कर्म-बन्धका कर्त्ता नहीं है। और जो अल्पज्ञान मोहसे रहित है उससे मोक्ष होता है; परन्तु मोहसहित अल्पज्ञानसे कर्मबन्धही होता हैं।**

कर्मबन्धानुसार संसार विविधरूप और बद्धजीव शुद्धि-अशुद्धिके भेदसे भेदरूप

कामादि-प्रभवश्चित्रः कर्मबन्धाऽनुरूपतः ।
तच्च कर्म स्वहेतुभ्यो जीवास्ते शुद्ध्यशुद्धितः ॥९९॥

'**कामादिकके उत्पादरूप जो भावसंसार कार्य है वह विचित्र है और कर्मबन्धकी अनुरूपतासे होता है**—द्रव्य-कर्मोंका बन्धन

जिस प्रकार प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागकी विशेषता एवं नाना-रूपताके कारण विचित्रताको लिये हुए ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीयादि अनेक प्रकारका होता है उसी प्रकार उदय-कालमें उसका कार्य भी अज्ञान, अदर्शन, मोह, राग, द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, सुख, दुःख और शारीरिक रचनादिकी विचित्रताको लिये हुए नाना-रूप होता है। और इससे यह फलित होता है कि जो एक स्वभावरूप नित्य ईश्वर माना जाता है वह तथा उसकी इच्छा या ज्ञान इस नाना-स्वभावरूप जगतका कोई कर्ता नहीं हो सकता और न निमित्तकारण ही बन सकता है। इस विषयकी विशेष चर्चाको अष्टसहस्रीमें बहुत ऊहापोहके साथ स्थान दिया गया है।

और वह कर्मबन्धन अपने कारणोंके—रागादिक भावोंके—**अनुरूप होता है। जिन्हें कर्मबन्ध होता है वे जीव शुद्धि और अशुद्धिके भेदसे** दो प्रकारके हैं—भव्य और अभव्य। सम्यग्दर्शनादि शुद्धस्वभावरूप परिणत होनेकी योग्यताकी व्यक्ति रखनेवाले जीव 'भव्य' कहलाते हैं और जिनमें वह योग्यताकी व्यक्ति न होकर सदा मिथ्यादर्शनादिरूप अशुद्धपरिणति बनी रहती है वे 'अभव्य' कहे जाते हैं। जो शुद्धि-शक्तिसे युक्त हैं उन्हींकी काल पाकर मुक्ति हो सकती है, शेषकी नहीं।'

शुद्धि-अशुद्धि दो शक्तियोंकी सादि-अनादि व्यक्ति

शुद्ध्यशुद्धी पुनः शक्ती ते पाक्याऽपाक्य-शक्तिवत् ।
साद्यनादी तयोर्व्यक्ती स्वभावोऽतर्कगोचरः ॥१००॥

'और वे शुद्धि-अशुद्धि दोनों (मूंग उड़द आदिके) **पचने अपचनेकी योग्यताके समान**—भव्य-अभव्य-स्वभावके रूपमें—**दो शक्तियां हैं, जिनकी व्यक्ति—प्रादुर्भूति क्रमशः सादि-अनादि**

हैं—शुद्धिकी प्रादुर्भूति सादि और अशुद्धिकी प्रादुर्भूति अनादि है; क्योंकि शुद्धिके अभिव्यंजक सम्यग्दर्शननादिक सादि होते हैं और अशुद्धिके अभिव्यंजक मिथ्यादर्शनादिकी संतति अनादिसे चली आती है। **और यह वस्तु-स्वभाव है जो तर्कका विषय नहीं होता**—अर्थात् स्वभावमें यह हेतुवाद नहीं चलता कि 'ऐसा क्यों होता है।'

प्रमाणका लक्षण और उसके भेद

तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्।
क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वाद-नय-संस्कृतम् ॥१०१॥

'(हे अर्हन् भगवन्!) **आपके मतमें तत्त्वज्ञानको प्रमाण कहा है वह** (तत्त्वरूपसे जाननेरूप) **प्रमाणज्ञान एक तो युगपत् सर्वभासनरूप** (केवलज्ञान) **प्रत्यक्षज्ञान है और दूसरा क्रमशः भासनरूप** (मति आदि) **परोक्षज्ञान है। जो क्रमशः भासनरूप ज्ञान है वह स्याद्वाद तथा नयोंसे संस्कृत है**—स्याद्वादरूप प्रमाण तथा नैगमादि नयोंके द्वारा संस्कारको प्राप्त है-प्रकट होता है।'

व्याख्या—तत्त्व (यथार्थ) रूपसे जाननेवाला ज्ञान प्रमाण कहलाता है। वह दो प्रकारका होता है—एक अक्रमभावि और दूसरा क्रमभावि। जो युगपत् समस्त पदार्थोंका प्रकाशन करता है वह अक्रमभावि है और वह पूर्णतया प्रमाणरूप होता है। किन्तु जो क्रमशः पदार्थोंका प्रकाशन करता है वह क्रमभावि है तथा वह स्याद्वाद (प्रमाण) और नय (अंशात्मक नैगमादि) दोनों रूप होता है।

प्रमाणोंका फल

उपेक्षा-फलमाऽऽद्यस्य शेषस्याऽऽदान-हान-धीः।
पूर्वा वाऽज्ञाननाशो वा सर्वस्याऽस्य स्वगोचरे ॥१०२॥

'युगपत्सर्वभासनरूप जो आद्य प्रमाण केवलज्ञान है उसका (व्यवहित) फल उपेक्षा है। शेष क्रमशः भासनरूप जो प्रमाण मत्यादि ज्ञान-समूह है उसका (व्यवहित—परंपरा) फल ग्रहण और त्यागकी बुद्धि है तथा पूर्वमें कही हुई उपेक्षा भी उसका (व्यवहित) फल है और अपने विषयमें अज्ञानका नाश होना इस सारे ही प्रमाणरूप ज्ञानसमूहका (अव्यवहित अथवा साक्षात्) फल है।'

स्यात् निपातकी अर्थ-व्यवस्था

वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषणम् ।
स्यान्निपातोऽर्थ-योगित्वात्तव केवलिनामपि ॥१०३॥

('हे अर्हन् !) आपके तथा श्रुतकेवलियोंके भी वाक्योंमें प्रयुक्त होनेवाला 'स्यात्' निपात (अव्यय) शब्द अर्थके साथ सम्बद्ध होनेसे अनेकान्तका द्योतक[1] और गम्य—बोध्य (विवक्षित) का बोधक—सूचक (वाचक) माना गया है—अन्यथा अनेकान्त अर्थकी प्रतिपत्ति नहीं बनती।'

व्याख्या—सत्-असत्-नित्य-अनित्यादि सकल सर्वथैकान्तों-के प्रतिक्षेप लक्षणको 'अनेकान्त' कहते हैं। और परस्पर सापेक्ष पदोंके निरपेक्ष[2] समुदायका नाम 'वाक्य' है। वाक्यके इस लक्षणसे भिन्न जो परवादियोंके द्वारा प्रकल्पित अन्यथा वाक्य हैं वे निर्दोष न होकर बाधासहित हैं। वाक्यपदी (२, १-२)

१. 'द्योतकाश्च भवन्ति निपाताः' इति वचनात् (अष्टसहस्री) अर्थात्—निपात शब्द केवल वाचक ही नहीं किन्तु (प्रकृत अर्थसे भिन्न अर्थके) द्योतक भी होते हैं।

२. वाक्यान्तर्गतपदनिरपेक्षः (अष्टसहस्री, पृष्ठ २८५ टिप्पण)

में वाक्यके प्रति न्याय-विदोंकी बाधा—भिन्न-मतिकी सूचना करते हुए दस प्रकारके वाक्योंका उल्लेख है, जिनके नाम हैं—(१) आख्यातशब्द, (२) संघात, (३) जातिसंघातवर्तिनी, (४) एकोनवयवशब्द, (५) क्रम, (६) बुद्धि, (७) अनुसंहृति, (८) आद्यपद, (९) अन्त्यपद, (१०) सापेक्षपद।

इन वाक्यप्रकारोंमें वाक्यके (अकलंकदेवकृत) उक्त लक्षण-की दृष्टिसे कौन वाक्य-भेद सदोष और कौन निर्दोष कहा जा सकता है इसका अष्टसहस्रीमें श्रीविद्यानन्दाचार्यने सहेतुक विस्तृत विचार किया है।

स्याद्वादका स्वरूप

स्याद्वादः सर्वथैकान्त-त्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः।
सप्तभंग-नयापेक्षो हेयाऽऽदेय-विशेषकः ॥१०४॥

'स्यात्-शब्द सर्वथा एकान्तका त्यागी होनेसे 'किं' शब्द-निष्पन्न चित्-प्रकारके रूपमें कथंचित् कथंचन आदिका वाचक है—और इसलिये कथंचित् आदि शब्द स्याद्वादके पर्याय-नाम हैं। **यह स्याद्वाद सप्तभंगों और नयोंकी अपेक्षाको लिये रहता तथा हेय-उपादेयका विशेषक (भेदक) होता है**—स्याद्वादके बिना हेय और उपादेयकी विशेषरूपसे व्यवस्था नहीं बनती।'

व्याख्या—जिन सप्तभंगोंका यहाँ उल्लेख है उन अस्ति-नास्ति-अवक्तव्यादि-रूप भंगोंका निर्देश ग्रन्थमें इससे पहले आ चुका है। रही नयोंकी बात, नयोंके मूलोत्तर-भेदादिके रूपमें बहुत विकल्प हैं। जैसे द्रव्य-पर्यायकी दृष्टिसे द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक ये दो मूलनय हैं; अध्यात्मदृष्टिसे निश्चय और व्यवहार ये दो भी मूलनय हैं। शुद्धि-अशुद्धिकी दृष्टिसे भी नयोंके दो-दो भेद किये जाते हैं; जैसे शुद्धद्रव्यार्थिक, अशुद्धद्रव्यार्थिक, शुद्धपर्यायार्थिक,

अशुद्धपर्यायार्थिक, शुद्धनिश्चय, अशुद्धनिश्चय, सद्भूतव्यवहार, असद्भूतव्यवहार इत्यादि। द्रव्यार्थिकके उत्तरभेद तीन—नैगम, संग्रह और व्यवहार; पर्यायार्थिकके उत्तरभेद चार—ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत। इन सप्तनयोंमें प्रथम चार भेद 'अर्थनय' और शेष तीन भेद 'शब्दनय' कहे जाते हैं। इन सबके उत्तरोत्तर भेद असंख्य हैं। संक्षेपमें कहा जाय तो जितने वचनमार्ग हैं—शब्दभेद हैं—तथा अपने-अपने ज्ञानके विकल्प हैं उतने-उतने नयोंके भेद हैं। नयोंका यह विषय बड़ा ही गहन-गंभीर है। इनके लक्षणादिका विशेष कथन नयचक्रादि ग्रन्थोंसे जानने योग्य है।

स्याद्वाद और केवलज्ञानमें भेद-निर्देश

स्याद्वाद-केवलज्ञाने सर्वतत्त्व-प्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥१०५॥

'**स्याद्वाद और केवलज्ञान दोनों** (जीवादि) **सब तत्त्वोंके प्रकाशक हैं। दोनोंके प्रकाशनमें साक्षात् और असाक्षात्** (परोक्ष)-**का भेद** (अन्तर) **है**—केवलज्ञान जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इन सात तत्त्वोंका प्रत्यक्षतः एवं युगपत् प्रकाशक है और स्याद्वादरूप श्रुतज्ञान इन पदार्थोंका अप्रत्यक्षतः (परोक्षरूपसे) क्रमशः प्रकाशक है। **इन दोनों ज्ञानोंमेंसे जो किसी भी ज्ञानके द्वारा प्रकाशित अथवा उसका वाच्य नहीं वह अवस्तु होती है।**'

नय-हेतुका लक्षण

सधर्मणैव साध्यस्य साधर्म्यादविरोधतः।
स्याद्वाद-प्रविभक्ताऽर्थ-विशेष-व्यञ्जको नयः ॥१०६॥

'**स्याद्वादरूप परमागमसे विभक्त हुए अर्थविशेषका—शक्य-**

अभिप्रेत-अप्रसिद्धरूप विवादगोचर साध्यका—**जो सधर्मा—दृष्टान्तके द्वारा, साध्यके साधर्म्यसे और** (विपक्षके) **अविरोधरूपसे व्यञ्जक है**—गमक अथवा बोधक है—**उसको नय**—नयविशेषरूप हेतु—कहते हैं—'नीयते गम्यते साध्योऽर्थोऽनेन इति नयः' इस निरुक्तिसे 'नय' शब्द यहाँ हेतुका वाचक है और अनेक धर्मोंमेंसे एक-धर्म-प्रतिपादक सामान्य नयकी दृष्टिमें भी वह स्थित है।'

द्रव्यका स्वरूप और भेदोंकी सूचना

नयोपनयैकान्तानां त्रिकालानां समुच्चयः।
अविभ्राड्भावसन्बन्धो द्रव्यमेकमनेकधा ॥१०७॥

'**त्रिकालवर्ति नयों-उपनयोंके एकान्त-विषयोंका**—पर्याय-विशेषोंका—**जो अपृथक्स्वभाव** (तादात्म्य) **सम्बन्धको लिये हुए समुच्चय—समूह है वह एक द्रव्य—वस्तु है और अनेक भेदरूप है।**'

निरपेक्ष और सापेक्ष नयोंकी स्थिति

मिथ्या-समूहो मिथ्या चेन्न मिथ्यैकान्ततास्ति नः।
निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् ॥१०८॥

'**यदि यह कहा जाय कि** (एकान्तोंको तो आप मिथ्या बतलाते हैं तब नयों और उपनयनों-रूप एकान्तोंका जो समूह द्रव्य है वह मिथ्या-समूह ठहरा) **मिथ्याओंका जो समूह वह तो मिथ्या ही होता है** (अतः द्रव्य कोई वस्तु न रहा) **तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि** (हे जिनदेव !) **आपके मतमें और इसलिये हमारेमें** (सापेक्षनयोंका ग्रहण होनेसे) **मिथ्या एकान्तता नहीं है, जो नय** (प्रतिपक्षी धर्मके सर्वथा निराकरणरूप) **निरपेक्ष होते हैं वे ही मिथ्यानय** (दुर्नय) **होते हैं सापेक्षनय** (जो कि प्रतिपक्षी धर्मकी उपेक्षा अथवा उसे गौण किये होते हैं) **मिथ्या न होकर**

सम्यक्नय होते हैं, **उनके** विषय **अर्थ-क्रियाकारी होते हैं और इस लिये उनके समूहके वस्तुपना सुघटित है।**

व्याख्या—यहाँ अनेकान्तके प्रतिपक्षी-द्वारा यह आपत्ति की गई है कि जब एकान्तोंको मिथ्या बतलाया जाता है तब नयों और उपनयों-रूप एकान्तोंका समूह जो अनेकान्त और तदात्मक वस्तुतत्त्व है वह भी मिथ्या ठहरता है; क्योंकि मिथ्याओंका समूह मिथ्या ही होता है। इसपर ग्रन्थकारमहोदय कहते हैं कि यह आपत्ति ठीक नहीं है; क्योंकि हमारे यहाँ कोई भी वस्तु मिथ्या एकान्तके रूपमें नहीं है। जब वस्तुका एक धर्म दूसरे धर्मकी अपेक्षा नहीं रखता—उसका तिरस्कार कर देता है—तो वह मिथ्या कहा जाता है और जब वह उसकी अपेक्षा रखता है—उसका तिरस्कार नहीं करता—तो वह सम्यक् माना जाता है। वास्तवमें वस्तु निरपेक्ष एकान्त नहीं है, जिसे सर्वथा एकान्तवादी मानते हैं; किन्तु सापेक्ष एकान्त है और सापेक्ष एकान्तोंके समूह-का नाम ही अनेकान्त है, तब उसे और तदात्मक वस्तुको मिथ्या कैसे कहा जा सकता है? नहीं कहा जा सकता।

वस्तुको विधि-वाक्यादि-द्वारा नियमित किया जाता है

नियम्यतेऽर्थो वाक्येन विधिना वारणेन वा।
तथाऽन्यथा च सोऽवश्यमविशेष्यत्वमन्यथा ॥१०९॥

(यदि कोई यह शंका करे कि वस्तुतत्त्व जब अनेकान्तात्मक है तब वाक्यके द्वारा उसे कैसे नियमित किया जाय, जिससे प्रति-नियत विषयमें लोकको प्रवृत्ति बन सके तो उसका समाधान यह है कि) **अनेकान्तात्मक वस्तुतत्त्व विधिवाक्य अथवा निषेध-वाक्यके द्वारा नियमित किया जाता है। विधि या निषेधरूप जिस वाक्यके द्वारा वह नियमित किया जाय उसरूप तथा उससे अन्यथा-**

विपक्षरूप वह अवश्य होता है—क्योंकि विधि-निषेधका परस्पर अविनाभाव-सम्बन्ध है और इससे जिस विधि या निषेध-वाक्यके द्वारा वह नियमित किया जाता है वह उस समय मुख्य होता है और प्रतिपक्षी वाक्यका विषय गौण । **यदि ऐसा न माना जाय**—विधि-निषेधरूपसे उसका अवश्यंभावीपना स्वीकार न किया जाय —**तो उस केवल विधि या केवल निषेध-वाक्यसे जो विशेष्य** (वस्तुतत्त्व) **है वह नहीं बन सकेगा**; क्योंकि प्रतिषेध-रहित विधिके और विधिरहित प्रतिषेधके विशेषणपना नहीं बनता और विधि-प्रतिषेध दोनोंसे रहितके गगन-कुसुमके समान विशेष्यपना नहीं बनता है । और इस तरह सत् असत् आदि वाक्योंमें विधि-निषेधकी गौण तथा प्रधानरूपसे वृत्तिका होना लक्षित होता है ।'

तदतद्रूप वस्तुको तद्रूप ही कहनेववाली वाणी सत्य नहीं

तदतद्वस्तु वागेषा तदेवेत्यनुशासती ।
न सत्या स्यान्मृषा-वाक्यैः कथं तत्त्वार्थ-देशना ॥११०॥

'(यदि यह कहा जाय कि वाक्य विधिके द्वारा ही वस्तुतत्त्व-का नियमन करता है तो यह सर्वथा एकान्त ठीक नहीं है; क्योंकि) **वस्तु तत्-अतत्रूप है**—दृष्टि-भेदके साथ अविनाभाव-सम्बन्धको लिये हुए सत्-असत्, नित्य-अनित्यादि अनेकान्तरूप है—**जो वाक्य** (वाणी) **उसे सर्वथा तत्रूप**—सत्-नित्यादिरूप—**ही प्रतिपादन करता है**—उसके प्रतिपक्षी अविनाभावधर्मको गौण किये हुए न होकर उसका विरोधक है—**वह सत्य नहीं होता तब** (ऐसे) **मिथ्या-वाक्योंसे तत्त्वार्थकी**—यथार्थ वस्तुस्वरूपकी—**देशना** (कथनी) **कैसे बन सकती है** ?—नहीं बन सकती ।'

व्याख्या—यद्यपि ये सभी वाक्य विधि और प्रतिषेध दोनों-

रूप वस्तुका प्रतिपादन करते हैं फिर भी यदि कहा जाय कि वे केवल विधिका ही अनुशासन (उपदेश) करते हैं तो यह कथन सत्य (यथार्थ) नहीं—मिथ्या है और मिथ्या-वाक्योंके द्वारा वस्तुस्वरूपका यथार्थ कथन नहीं बन सकता। अतः वाक्य चाहे विधिरूप हों और चाहे निषेधरूप, सभी विधि तथा प्रतिषेध दोनों-रूप वस्तुका प्रतिपादन करते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि विधि-वाक्यके द्वारा विधिका कथन मुख्यरूपसे और प्रतिषेधका कथन गौणरूपसे तथा प्रतिषेध-वाक्यके द्वारा प्रतिषेधका कथन मुख्यरूपसे और विधिका कथन गौणरूपसे किया जाता है। यही यथार्थ तत्त्व-देशना है।

वाक्-स्वभाव-निर्देश, तद्भिन्नवाक्य अवस्तु

वाक्स्वभावोऽन्यवागर्थ-प्रतिषेध-निरङ्कुशः।
आह च स्वार्थ-सामान्यं तादृग्वाक्यं ख-पुष्पवत् ॥१११॥

'(यदि बौद्धोंकी मान्यतानुसार यह कहा जाय कि वाक्य प्रतिषेधके द्वारा ही वस्तुतत्त्वका नियमन करता है तो यह एकान्त भी ठीक नहीं है; क्योंकि) **वाक्यका यह स्वभाव है कि वह अपने अर्थ-सामान्यका प्रतिपादन करता हुआ अन्य-वाक्योंके अर्थ-प्रतिषेध-में निरंकुश होता है**—बिना किसी रोक-टोकके दूसरे सब वाक्योंके विषयका निषेध करता है; जैसे 'घट लाओ' यह वाक्य पट लाओ, लोटा लाओ, घड़ी लाओ, मेज (कुर्सी) लाओ इत्यादि पर-वाक्यों-के अर्थका स्वभावसे निषेधकरूप है। **इस वाक्-स्वभावसे भिन्न बौद्धोंका जो उस प्रकारका अन्यापोहात्मक वाक्य है वह आकाशके पुष्प-समान अवस्तु है**—कहा-न-कहाके बराबर अथवा अनुक्त-तुल्य है। क्योंकि विशेष-रहित सामान्य और सामान्य-शून्य विशेष कहीं भी (बाहर-भीतर) उपलब्ध नहीं होता। जब उपलब्ध

नहीं होता तब विशेष-रहित सामान्य ही अथवा सामान्य-शून्य विशेष ही वस्तुका स्वरूप है, इस प्रकारके आग्रह-द्वारा स्व-परको कैसे ठगा जाय ? नहीं ठगा जाना चाहिये ।

व्याख्या—बौद्धोंकी मान्यता है कि कोई भी वाक्य हों वे सब अन्यापोह-रूप प्रतिषेधका ही प्रतिपादन करते हैं, विधिका नहीं । इस पर आचार्य कहते हैं : वाक्य (वाणी) का यह स्वभाव है कि वह अन्य वाक्यों-द्वारा प्रतिपादित अर्थका निर्बाधरूपसे प्रतिषेध करता है और अपने विधिरूप अर्थ-सामान्यका भी कथन करता है । यदि केवल अन्यापोहरूप प्रतिषेध ही वाच्य हो तो उक्त प्रकारका वाच्य आकाश-पुष्पकी तरह असत् है । हमें विशेषको छोड़कर केवल सामान्य और सामान्यको छोड़कर केवल विशेष कहीं उपलब्ध नहीं होता । जब उक्त प्रकारका वाच्य उपलब्ध नहीं होता तो हम ऐसा अभिनिवेश करके कि वाक्यके द्वारा स्व (विधि) अथवा पर (प्रतिषेध–अन्यापोह) ही कहा जाता है, क्यों भ्रामक प्रवृत्ति करें या दूसरोंको ठगें । अतः जिस प्रकार वाक्यके द्वारा केवल विधिका ही नियमन नहीं होता उसी तरह केवल प्रतिषेध (अन्यापोह) का भी नियमन नहीं होता । किन्तु उभयका नियमन होता है और यह वाक्य (वाणी) का स्वभाव है ।

अभिप्रेत–विशेषकी प्राप्तिका सच्चा साधन

सामान्यवाग्विशेषे चेन्न शब्दार्थो मृषा हि सा ।
अभिप्रेत-विशेषाप्तेः स्यात्कारः सत्य-लाञ्छनः ॥११२॥

'**यदि यह कहा जाय** कि ('अस्ति' जैसा) **सामान्य वाक्य परके अभावरूप** (अन्यापोह) **विशेषमें वर्तता है**—उसे प्रति पादित करता है—**तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि सामान्यवाक्य**

विशेषमें शब्दार्थरूप नहीं है—अभिप्रायमें स्थित विशेषको नहीं जनाता अथवा प्रतिपादित नहीं करता—**और इस लिये सत्यरूप न होकर मिथ्या-वाक्य है। अभिप्रायमें स्थित जो विशेष उसकी प्राप्तिका सच्चा लक्षण अथवा चिह्न 'स्याद्वाद' (स्यात् शब्द-पूर्वक वाद—कथन)** है—सामान्य-विशेषात्मक वस्तुका जब मुख्यतः सामान्यरूपसे कथन किया जाता है तब उसका विशेषरूप गौण होकर वक्ताके अभिप्रायमें स्थित होता है, जिसे साथमें प्रयुक्त 'स्यात्' शब्द व्यक्त अथवा सूचित करता है। **और इसलिये 'स्यात्कार' अभिप्रेत-विशेषके जाननेका सच्चा साधन एवं मार्ग है।** अभिप्रेत वही होता है जो स्वरूपादि (स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव) के द्वारा सत् होता है—पररूपादिके द्वारा सत् नहीं।'

व्याख्या—बौद्धोंका कथन है कि विधिरूप सामान्यको कहनेवाला वाक्य भी विशेष (अन्यापोह) का ही प्रतिपादन करता है—उसीमें उसकी प्रवृत्ति होती है। पर उनका यह कथन संगत नहीं है; क्योंकि इससे अन्यापोह-शब्दका अर्थ सिद्ध नहीं होता। शब्दका वही अर्थ माना जाता है जिसमें उस शब्दकी प्रवृत्ति हो। अन्यापोहमें किसी भी शब्दकी प्रवृत्ति नहीं होती। ऐसी स्थितिमें विधिरूप सामान्यको कहनेवाला वाक्य भी आपके मतानुसार मिथ्या ठहरता है। वास्तवमें वही वाक्य सत्य है जिसके द्वारा अपने अभिप्रेत अर्थ-विशेषकी प्राप्ति होती है और ऐसा वाक्य 'स्यात्' शब्दसे युक्त ही संभव है और उसीसे सत्य (यथार्थ अर्थ) की पहचान होती है। क्योंकि वह लोगोंको अभिप्रेत अर्थ-विशेषकी प्राप्ति कराता है। अन्य (स्यात्कारसे रहित) वाक्योंसे अर्थ-विशेषकी प्राप्ति नहीं होती। यही स्याद्वाद और अन्यवादोंमें विशेष अन्तर है।

स्याद्वाद-संस्थिति

यमीप्सितार्थाङ्गं प्रतिषेध्याऽविरोधि यत् ।
तथैवाऽऽदेय-हेयत्वमिति स्याद्वाद-संस्थितिः ॥११३॥

'(अस्ति इत्यादिरूप) **जो विधेय** है—मनके अभिप्रायपूर्वक जिसका विधान किया जाता है, किसीके भयादिवश नहीं—**और ईप्सित-अर्थक्रियाका कारण है वह प्रतिषेध्यके**—नास्तित्वादिके—**साथ अविरोधरूप है**—जो नास्तित्वादिके साथ अविरोधरूप नहीं वह ईप्सित-अर्थक्रियाका कारण भी नहीं हो सकता; क्योंकि विधि-प्रतिषेधके परस्पर अविनाभाव-सम्बन्ध है, विधिके बिना प्रतिषेधका और प्रतिषेधके बिना विधिका अस्तित्व नहीं बनता। **और जिस प्रकार विधेय प्रतिषेध्यका अविरोधी ईप्सित अर्थ-क्रियाका अंग–कारण सिद्ध है उसी प्रकार वस्तुका आदेय–हेयपना है, अन्यथा नहीं**; क्योंकि विधेयका एकान्त होनेपर किसीके हेयत्वका विरोध होता है; प्रतिषेध्यका एकान्त होनेपर किसीके आदेयत्वका विरोध होता है; स्याद्वादीके अभिप्रायानुसार सर्वथा विधेय ही प्रतिषेध्य नहीं होता; कथंचित् विधि-प्रतिषेध्यके तादात्म्य माना गया है। अतः विधेय-प्रतिषेधात्मक विशेषके कारण सप्तभंगीके समाश्रयसे स्याद्वाद प्रक्रियमाण होता है। **इस प्रकार स्याद्वादकी** (सर्वत्र युक्ति-शास्त्राऽविरोधके कारण) **यह सम्यक् स्थिति है**। और इसलिये हे वीर भगवन् ! हमनें जो यह निश्चय किया है कि 'युक्ति-शास्त्राऽविरोधिवाक्यके कारण आप ही निर्दोष आप्त हैं' वह अनवद्य है—सर्वप्रकारसे बाधा-रहित है।'

आप्त-मीमांसाका उद्देश्य

इतीयमाप्तमीमांसा विहिता हितमिच्छताम् ।
सम्यग्मिथ्योपदेशार्थ-विशेष-प्रतिपत्तये ॥११४॥

'**इस प्रकार** ('देवागम' नामके स्वोक्त दश-परिच्छेदात्मक शास्त्रमें) **यह आप्तमीमांसा**—सर्वज्ञ-विशेष-परीक्षा—**हित चाहने वालोंके**—मुख्यतः मोक्ष और उसका कारण सम्यग्दर्शनादिरूप रत्नत्रयके अभिलाषी भव्यजीवोंके—**सम्यक् उपदेश और मिथ्या उपदेशके अर्थ-विशेषकी प्रतिपत्तिके लिये**—उपादेय तथा हेय-रूपसे श्रद्धान, ज्ञान और समाचरणकी प्राप्तिके लिए—**की गई है** ।'

इति देवागमाऽऽप्तमीमांसायां दशमः परिच्छेदः ।

अनुवादकीय-अन्त्य-मंगल

यस्य सच्छासनं लोके स्याद्वादाऽमोघ-लाञ्छनम् ।
सर्वभूत-दयोपेतं दम-त्याग-समाधिभृत् ॥ १ ॥
नय-प्रमाण-सम्पुष्टं सर्व-बाधा-विवर्जितं ।
सार्वमन्यैरजय्यं च तं वीरं प्रणिदध्महे ॥ २ ॥

[जिनका समीचीन शासन इस लोकमें स्याद्वादरूप प्रमोघ लक्षणसे लक्षित है—सर्वथा एकान्तवादरूप न होकर अनेकान्त-वादात्मक है, इसीसे कभी असफल न होनेवाला है—सर्वप्राणियोंकी दयासे युक्त है, इन्द्रिय-दमन परिग्रह-त्यजन और ध्यान-समाधिकी तत्परताको लिए तथा उनकी शिक्षाओंसे परिपूर्ण है, नयों तथा

प्रमाणोंसे भले प्रकार पुष्ट है, सर्वबाधाओंसे विवर्जित है, सबके हितरूप हैं और अन्य समस्त एकान्त-शासनोंके द्वारा अजेय है— कोई भी उसे जीत नहीं सकता—उन श्रीवीर भगवान्को मैं नत-मस्तक होता हूँ।]

यद्भक्तिभाव-निरता मुनयोऽकलंक-
विद्यादिनन्द-जिनसेन-सुवादिराजाः ।
गायन्ति दिव्य-वचनैः सुयशांसि यस्य
भूयाच्छ्रियै स युगवीर-समन्तभद्रः ॥२॥

[जिनकी भक्तिमें लीन हुए अकलंकदेव, विद्यानन्दस्वामी, भगवज्जिनसेन और वादिराज प्रमुख जैसे महामुनि अपने दिव्य-वचनों-द्वारा जिनके सुयशोंका गान करते हैं वे युगवीर—इस युगके प्रधान पुरुष—श्री समन्तभद्र स्वामी हमारी श्री[1]वृद्धिके लिए निमित्तभूत होवें—उनके प्रसादसे अथवा प्रसन्नतापूर्वक आराधनसे हमें निजश्रीकी—आत्मीय लक्ष्मी-ज्योति, शोभा-प्रभा, सम्पत्ति-विभूति, शक्ति-सरस्वती और सिद्धि-समृद्धिकी—अधिकाधिक प्राप्ति होवे।]

इति श्रीनिरवद्यस्याद्वादविद्याधिपति-सकलतार्किकचक्रचूडामणि-श्रद्धा-गुणज्ञतादिसातिशयगुणगणविभूषित-सिद्धसारस्वत-स्वामिसमन्तभद्राचार्यप्रणीतं सम्यग्मिथ्योपदेशार्थविशेषप्रतिपत्तिरूपं देवागमाऽऽप्तरनामाऽऽप्तमीमांसाशास्त्रं युगवीर-जुगलकिशोर - मुख्तारविरचित-स्पष्टार्थादियुक्ताऽनुवादसमन्वितं समाप्तम् ।

१. 'श्री' शब्द उन सभी अर्थोंमें प्रयुक्त होता है जिन्हें 'निजश्री' की व्याख्यामें व्यक्त किया गया है और जो यहाँ विवक्षित हैं।

संशोधन

छपनेमें कुछ अशुद्धियाँ हो गई हैं, जिनका संशोधन निम्नप्रकार हैं, पाठक पहले ही सुधार लेनेकी कृपा करें:—

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	५	तदनुपमं	त्वनुपमं
२४	२	आस्तित्व	अस्तित्व
३२	१०	सत्ता-अस्तित्वमें-	सत्ता—अस्तित्वमें
४०	२४	यदि	**यदि** (ब्लैक टाइपकी सूचनार्थ)
५३	१८	होता जैसे	होता; जैसे
६७	१६	असंभद	असंभव
६९	५	द्रयव्को	द्रव्यको
,,	१०	केबल	केवल
,,	१९	द्रव्यभ्	द्रव्यम्
८५	३	व्यक्तिरिक्त	व्यतिरिक्त
१००	१३	ज्ञेयाऽनन्त्याम्न	ज्ञेयाऽऽनन्त्यान्न
१०३	२४	उपेक्षा-फलमाऽऽघ्स्य	उपेक्षा फलमाद्यस्य
१०४	८	अर्थव्यवत्था	अर्थव्यवस्था
१०९	१२	कहने ववाली	कहनेवाली
२ (प्रस्तावना)	१९	रचवाएँ	रचनाएँ
२ ,,	२०	उपलल्घ	उपलब्ध
१६ ,,	१३	असद्भूवामें	असद्भावमें
३० ,,	८	शास्त्रकार:	शास्त्रकारै:
३२ ,,	११	कलित	फलित
३३ ,,	१९	चाता	जाता

सूचना—(१) इसी प्रस्तावनाके पृष्ठ २६ पर फुटनोटमें मुद्रित २४ से २६ तकको 'श्रोतव्याऽष्टसहस्री' आदि तीन पंक्तियाँ पृ० २७ पंक्ति २८ के नीचे एक नम्बरके फुटनोटकी जगह पढ़ें।

(२) तथा पृ० ४६ पंक्ति २६, नम्बर ११ पर मुद्रित फुटनोटको नम्बर १३ का फुटनोट पढ़ें।

देवागम-कारिकाऽनुक्रमणिका

कारिकाऽऽद्यचरण क्रमाङ्कसहित

—:०:—

देवागमकी प्रमुख-शब्द-सूची

कारिका-संख्याङ्क-सहित

प्रस्तुत ग्रन्थके अनुवादक एवं सम्पादक तथा जैन साहित्य व इतिहासके वेत्ता श्रद्धेय पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारके इस देवागम अनुवादकी सराहना करूँगा। देवागम जैसे दुरवगाह दर्शन-ग्रन्थका बड़े परिश्रम के साथ ग्रन्थानुरूप हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत करके समन्तभद्रभारतीके उपासकोंको उन्होंने बड़ा लाभ पहुँचाया है। परम प्रमोदका विषय है कि वे ९० वर्षकी वयमें भी शासन-सेवामें संग्लन हैं। हम उनके शतवर्षी होनेकी हृदयसे कामना करते हैं।

दरबारीलाल कोठिया
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय